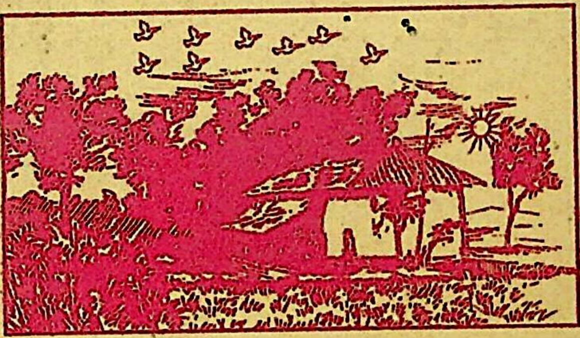
॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

सत्पाथेयं-सत्पथमार्तण्डश्च



लेखकः-
पं. विष्वक्सेनाचार्य
श्रीरंगमन्दिर, वृन्दावन

सन्- २००३

मूल्य- २५/- रु०

• श्रीमते रामानुजाय नमः •

सत्पाथेयं सत्पथमार्तण्डश्च

[स्वोपज्ञसंस्कृतहिन्दीविवरणव्याख्यानसंवलितः]

काशीसंस्कृतविद्वन्मण्डलमण्डनमतिवचोविलासानां सकलदर्शनारण्यपथावगमप्रथितानाम् उभयवेदान्तविद्यावितरणक्षपितसकलदिवसानां सुविदितशमदमविशुद्धधिषणानाम् बदरीनारायणभगवच्चरणरतिनीतसकलभावानां शैशवादेव विद्याव्यसनितया सन्त्यक्तसंसाराणां तपोनिधिश्रीरङ्गाचार्यस्वामिवर्याणां, चरणशरणसमाश्रयणलब्धसत्ताकेननव्यन्यायनव्यपाणिनीयव्याकरणाचार्येण, वेदान्तसाहित्यज्यौतिषजैनबौद्धादिनास्तिकदर्शनकाननेष्वपि विहितभूरिसञ्चरणेन, विद्यावारिधिना उत्तरप्रदेशीयविविधसंस्कृतमहाविद्यालयेषु विद्यादानप्रथितेन, झलोखर-संस्कृतमहाविद्यालय-प्रधानाचार्यपदसम्बन्धि सेवा-विश्रान्तेन

डॉ० विन्ध्येश्वर पाण्डेयेन
(विष्वक्सेनाचार्य) इति सत्सुप्रथितेन
लोहरदगा (झारखण्ड) वास्तव्येन
विरचितम्

सन्— २००३] 卐 [सम्वत्— २०६०

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

- पं० श्रीविष्वक्सेनाचार्यजी
  श्रीरङ्गमन्दिर त्रिमाली
  श्रीरङ्गमन्दिर, वृन्दावन-२८११२१ (उ. प्र.)

- पं० विष्णुदत्त पाण्डेय
  शिक्षक-विद्यामन्दिर, लोहारदगा (झारखण्ड)

•

प्रतियाँ—१०००

•

सन्—२००३ शरद् पूर्णिमा

•

मूल्य—२५) रुपये मात्र

•

मुद्रक—

श्रीरङ्गनाथ प्रेस

रङ्गजी का पश्चिम कटरा, वृन्दावन-२८११२१ (उ. प्र.)

☎ : (०५६५) २४४२१३१

* प्रास्ताविकम् *

मनोमिलिन्दः प्रायो गायति भावकुसुमेषु निर्व्याजम् ।
रागेण केऽपि गीतं रसेन काव्यं तत्तु मन्यन्ते ॥ १ ॥

स्वप्रीतये परेशो नरकरणैस्तनोति कृत्यचित्राणि ।
स्पृहणीयरागसंगैर्निम्नोन्नतानीवाद्धाऽङ्कितानि ॥ २ ॥

रसिकानामास्वादः खलानामिव विष्वक्परीवादः ।
सुलभो विशेषशून्ये मेघे शिखिभेकयोः पृथङ्नादः ॥ ३ ॥

सद्धीस्तत्त्वम्बुध्यतु शुद्धयतु पन्थाश्च यत्र परमार्थः ।
चित्तं चरतु शुभार्थे स्मरतु जगदिति निबन्धेषूद्देश्यम् ॥ ४ ॥

अनुबन्धास्तु निबन्धे हरिसम्बन्धेऽस्मिन् सतां सुगुणेद्धे ।
प्रविविक्षूणाम्मतये दीयन्तेऽथान्येषामपगतये ॥ ५ ॥

उज्जीवनाभ्युपायः प्रतिपाद्यस्तल्लिप्सुरधिकारी ।
श्रीशोऽर्थिनां देष्टा निर्दुःखमहासुखम्फलमुच्चैः ॥ ६ ॥

विरलानामेवार्थे विरलेनैव निबद्धो विरलार्थः ।
महाह्लदे हंसैष्ये काकोऽपि पिबतूदकं नो हानिः ॥ ७ ॥

॥ प्रस्तावना ॥

हमारा मनरूपी भौंरा अपने भावरूपी फूलों पर बिना उद्देश्य के ही प्रायः गुनगुनाता है। उसकी गुनगुनाहट कभी वाणी का रूप ले लेती है तब उसमें कुछ लोग राग देखकर गीत मान लेते हैं और जब उसमें रस लक्षित होता है तब काव्य कहते हैं। मन भौंरा क्या जाने कि ऐसी सहज ध्वनि को कहाँ क्या नाम दिया जा रहा है। प्रस्तुत

निबन्ध मन का सहज व्यापार है। पढ़ने वाले इसे किसी भी नाम रूप से जोड़ सकते हैं।

परमात्मा केवल अपनी सन्तुष्टि के लिये मानव के करणों से कर्मरूपी चित्रों का विस्तार करते हैं। उसमें मानव के रागरूपी रङ्गों के लगने से नदी पर्वत आदि जैसा ऊँचा नीचा लगता है जब कि वास्तव में चित्र में कोई भेद नहीं होता।

सम्भव है कि इस निबन्ध में कोई विशेष बात न हो फिर भी रस के उपासकों को इसमें रसास्वाद वैसे ही हो जायेगा जैसे खलों को निन्दा के लिये सर्वत्र दोष मिल जाता है। प्रकृति में भी देखा जाता है कि मेघ में ऐसा कोई विशेष नहीं होता कि उसे देखते ही मयूर अपना नाच गान शुरू कर दे और मेढ़क उसके बरसने पर टर्र-टर्र शुरू करे। फिर भी वे अपने अपने स्वभावों के अनुसार विभिन्न ध्वनियाँ निकालते हैं।

इस निबन्ध के लेखन में वे सारे उद्देश्य हैं जो सामान्यतया सर्वत्र होते हैं। जैसे उपयुक्त बुद्धि वाला व्यक्ति प्रतिपादित तत्व समझ ले एवं जिस मार्ग से अभिमत परमार्थ सुलभ है वह स्पष्ट हो, लेखक पाठक विमर्शक का चित्त उत्तम अर्थों में विचरण करे एवं लेखक को समाज याद भी रखे जिससे वह मर कर भी कीर्ति से अमर रहे।

यहाँ भगवत्सम्बन्ध की प्रधानता है। जिन गुणों से सम्बन्ध सफल होता है उनकी यहाँ प्रमुखता है। सत्पुरुष अपने उत्तम गुणों से इसका महत्त्व बढ़ायेंगे। पढ़ने से अनुबन्ध समझ में आते ही हैं फिर भी इसमें प्रवेश से पहले जानने योग्य चार अनुबन्ध बतलाये जा रहे हैं जिससे जिज्ञासुओं को प्रवृत्ति और दूसरों को निवृत्ति आसान हो। उत्कृष्ट जीवन पाने का उपाय इसका मुख्य विषय है। उपाय प्राप्त करने का इच्छुक इसका अधिकारी होगा। उपाय के प्रथम उपदेशक

साक्षात् लक्ष्मीपति नारायण हैं। उनकी शिष्य परम्परा से यह प्राप्त है। दुःखरहित महान् सुख सर्वोत्तम फल है।

जिनके लिये यह लिखा गया है वे विरले हैं। इसे लिखने वाला व्यक्ति भी कोई विरला है। इसमें जिस अर्थ का उपन्यास है वह भी विरला है फिर भी हंस के सेवन योग्य इस मानस महाह्रद में कोई कौआ भी जल पी ले तो कोई हानि नहीं। अपनी क्षमता के अनुसार हर व्यक्ति इससे लाभ उठा सकता है।

—विष्वक्सेनाचार्य
श्रीरङ्गमन्दिर, वृन्दावन



॥ अर्थानुक्रम–सत्पाथेयम् ॥

****

श्लोक सं० विषय

३३- जन्मान्तरक्रम०—तत्त्व निष्ठा ग्रन्थों में कल्पित हो सकती है, लोक में वह सुलभ नहीं।

३४- सामान्यतो जगति०—प्रपन्न और तत्त्वनिष्ठ इन दोनों का उद्धार भगवान् समान वल से स्वयं करते हैं दोनों को शुकादि शास्त्रों में समान ही श्रम करना पड़ता है।

३५- चेतो मराल०—चित्त को शुकादि शास्त्रो में वैसी रति होनी चाहिये जैसी हंस को मानस सरोवर में।

३६- वाचः पराशर०—शुकादि शास्त्र ही मोक्ष या परमपद या परमात्मा है।

३७- संश्रित्य ये०—निष्ठावान् सेवारत प्रपन्नों को ये ज्ञानपूर्ण वचन मधुतुल्य सरस लगेंगे।

३८- मुनिगुणमित०—वालक भी इस निवन्ध का असाधारण रस ले सकते हैं।

॥ सत्पथमार्तण्डः ॥

१- यमनवगत्य०—मङ्गलाचरण में भगवान् का नित्य अनुभव चाहा गया है।

२- दुःखहेतवः के कें०—तत्त्ववोध प्रयोजक जिज्ञासायें क्या क्या हों।

३- यस्यैवं जिज्ञासा—जिज्ञासा ही वोध में कारण वनती है।

४- विश्वरूपधृद् विष्णु०—समग्र शास्त्र निष्कर्ष।

५- प्रथमं साऽर्च्या०—अपने स्वरूप को ईश्वर विग्रह मानकर पूजना प्रथम कृत्य।

६- प्रत्यग्भाः परमात्मा०—स्वयम्प्रकाश आत्म तत्त्व सूर्यादि पिण्डों की ही भांति ईश्वर का रूप है।

७- यथा हरेर्गगनाद्या०—जीवात्मा परमात्मा का शरीर है।

८- अहंग्राहमुखलग्न०—अज्ञान अवस्था में पूजा कैसे हो?

९- १०, ११, [illegible]—उक्त प्रश्न का समाधान।

श्लोक सं० विषय

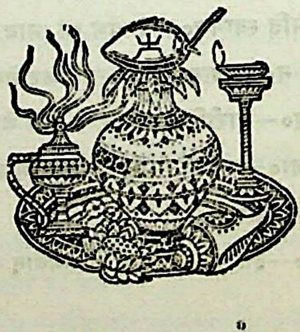
२७- उत्पन्नाः सद्भावा०—उत्तम मनोभाव यदि सदाप्रभु के प्रति समर्पित होते रहें तो दुर्बुद्धि का अवसर नहीं बनेगा।

२८- ज्ञानभानुरयमिद्धः०—यह ज्ञान सूर्य सभी अज्ञानान्धकारों का नाश करके स्वयम् मोक्षपद भी पा लेता है।

२९- सत्पथमार्तण्डोऽयम्०—इस मार्तण्ड को सज्जन अपने कण्ठ में मणि की तरह धारण करें इससे कुसंग रुकेगा और सद्गति प्राप्त होगी।

३०- भगवच्चरणनिषण्ण०—यह निबन्ध अपने सदाचार्य की सन्तुष्टि के लिए उन्हें ही समर्पित हैं।

॥ इति ॥



॥ सत्पाथेयम् ॥

यम्प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तंसर्वभूतहृदयम्मुनिमानतोस्मि ॥ १ ॥

संस्कृतविवरणम्—तत्त्वविदग्रेसरं सुविदितप्रभावम् मुनिं शुकदेवम् प्रस्तुवन् ग्रन्थकृत् निबन्धस्यास्य तदभिमततत्त्वप्रधानतां सूचयन् ग्रन्थारम्भशोभावहम्मङ्गलं तनोति, यम्प्रव्रजन्तमित्यादि । यम् प्रस्तुतम्, अनुपेतम् श्रौतोपनयनानपेक्षम् ब्रह्मचारियतिकृत्योपकरणरहितं च, तत्र हेतुमाह अपेतकृत्यम् इति यत्किञ्चित्प्राप्तव्यरहिततया निवृत्त-सकलव्यापारम् इत्यर्थः, प्रव्रजन्तम् निवृत्ताया अप्यासक्तेः पुनर्जनन-क्षमेभ्यो देहतदनुबन्धिभ्यो दूरम् व्रजन्तम्, देहाद्दूरीभावो नित्यान्त-र्मुखतया, द्वैपायनो जनसञ्चारशून्ये सारस्वत द्वीपे लब्धजन्मा तत्रैव निवसन् लोकासङ्गरहितस्तत्त्वैकनिविष्टधिषणो व्यासः, सोऽपि विरहकातरः अदृष्टचरतत्त्वविदग्रेसरम् सततान्तर्मुखावस्थचेतस्कम् हरिभक्त्यधिकारकाष्ठानिष्ठम् औरसजन्मानं शुकम्प्रति महार्घरत्नम्प्रति लौकिक इव तदध्यात्मगुणवैशिष्ट्यवशीभूतचेतस्कतया तद्दूरीभावम् असहमानः पुत्र ! इति सम्बन्धसूचकपदेन अनिवार्यसाहचर्ययोग्यतामिव तस्मिन्नारोपयन् उच्चैराजुहाव आहूतवान् । तत्रोत्प्रेक्षा, मन्ये तरवोऽपि तन्मयतया चिरसाहचर्यवशाद्व्याससमभाववत्तया जडतामपहाय पुत्रेति

अभिनेदुः पुरोभूयेव वात्सल्यम् व्यञ्जयन्त इव भृशं सम्बोधयामासुः, सर्वभूतहृदयम् प्राणिमात्रान्तरङ्गतलद्योतिचिन्मात्रस्वरूपेऽवस्थितम् विश्वरूपेणावस्थितस्य भगवतो विष्णोर्हृदयप्रदेश इव विशेषावधान-विषयभूतं च, तम्प्रसिद्धम्मुनिम् सततस्वहितभगवदनुभवैकान्तशान्त-चेतस्कम् शुकदेवम् आ समन्तात् रूपगुणशीलविज्ञानवाग्वैशद्यादि सकलविशेषविषयीकारेण नतः नितान्तप्रह्वीभूतमानसोऽस्मीत्यर्थः ॥१॥

हिन्दी व्याख्या—भगवान् वेदव्यास परमात्मा के ज्ञानावतार हैं। जन्म के बाद उन्हें तप की ही इच्छा हुई। तप से ही ज्ञान होता है और मोक्ष-लाभ होता है। उनके तप में कभी विघ्न नहीं आया। इसी से अपान्तरतपा कहे जाते हैं। कहीं अपान्तरतमा शब्द भी आया है। इसका अर्थ होता है वह व्यक्ति जिसका अपने आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में अज्ञान न रह गया हो। यह अवस्था चिर अर्जित तप का फल होती है। ऐसा ही व्यक्ति ब्रह्मविद्या का अधिकारी आचार्य होता है। उन्होंने वेदों का गहन अध्ययन करके अपने शिष्य जैमिनि को पढ़ाया और उसका तर्कसंगत निष्कर्ष लिखने का आदेश दिया। फल-स्वरूप पूर्वमीमांसादर्शन का आविर्भाव हुआ।

वेदों का आध्यात्मिक अंश जो वेदान्त कहा जाता है उसका निष्कर्ष स्वयं लिखकर अधिकारी शिष्यों को पढ़ाया। वही ब्रह्मसूत्र है, वही वेदान्त विद्या या अध्यात्मविद्या है। अध्यात्मविद्या भगवद् भक्ति के बिना सफल नहीं होती। इसीसे श्रीमद्भागवत की रचना की। उस ग्रन्थ को कोई अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति ही पढ़ और समझ सकता था। उस समय उनके समीपस्थ शिष्यों में उनकी दृष्टि में कोई योग्य नहीं था। योग्य का अभाव उन्हें खल रहा था। उसी समय उनके सुयोग्य पुत्र के रूप में भगवान् शुक उनके समक्ष प्रकट हुए। बारह वर्ष के गर्भवास-काल में ही उन्हें समस्त विद्यायें प्राप्त हो चुकी थीं। क्रीड़ा का व्यवधान न होने से उनकी ब्रह्मविद्या पारदर्शी थी। जन्म के बाद उन्हें संन्यास ही सूझा। हरिभक्ति की उन्हें आवश्यकता

थी, किन्तु उस समय उनका ध्यान उधर नहीं गया। वे एकान्त वन में कहीं तप के लिए चलते बने।

वेदव्यासजी ने भक्ति के सर्वोत्तम अधिकारी के रूप में उनकी पहचान की थी। उन्हें अपने से दूर हटते देख वे व्यथित हो उठे। उन्हें मालुम हुआ कि प्रत्यक्ष भगवद्भक्ति ही भागी जा रही है। नवजात युवा तत्त्वनिष्ठ तपोनिष्ठ अत्यन्त निरपेक्ष पुत्र तेजी से आगे-आगे जा रहा है और पीछे से जराजर्जर अति प्राचीन ज्ञाननिष्ठ पिता उसे लौटाने के लिए शक्तिभर दौड़ लगा रहा है। कैसा अद्भुत दृश्य था। उस सद्यः प्रसूत तीव्रगामी नव-कुमार को कैसे लौटाते। पुत्र-पुत्र कहने पर भी वह कैसे लौटता। वह क्या जानता था कि पुत्र क्या बला होता है। उसके लिए सम्बोधन योग्य दूसरा कोई शब्द भी नहीं था।

चिरसाहचर्य के फलस्वरूप उस तपोवन के सभी वृक्षों को वेदव्यासजी के प्रति मानो पूरी सहानुभूति थी। इससे पीछे से आने वाली 'पुत्र-पुत्र' की ध्वनि सामने के वृक्षों से टकराकर उक्त शुकमुनि को मिलती थी। नैसर्गिक शास्त्रबोध के द्वारा उन्होंने पुत्र शब्द का अर्थ समझा और यह भी मान गये कि मुझे ही पुकारा जारहा है। वे कोई व्याकुल तो थे नहीं, धीर थे। रुक गये और पिता से ब्रह्मविद्या के पोषक भक्ति शास्त्र का अध्ययन किया।

आत्मगत भेददृष्टि भक्ति में बाधक होती है। श्रीशुकदेव मुनि को भेददृष्टि थी ही नहीं। इसीसे वे सर्वभूत हृदय कहे गये हैं। प्राणिमात्र के हृदय में एक ही चेतन-तत्त्व प्रकाशमान है। वही मैं हूँ, वही सभी प्राणी हैं, ऐसी धारणा उनकी सदा रहती थी। विश्वरूप भगवान् सदा उनके हृदय में रहते थे। वे उक्त भगवान् के हृदयस्थानीय थे। अध्यात्मविद्योचित समस्त गुणग्रामगरिष्ठ ऐसे शुकदेव मुनि को हम सर्वात्मना प्रणाम करते हैं। यह भागवतमङ्गल इस श्लोक का भावार्थ है। प्रस्तुत निबन्ध में जो अर्थ होंगे वे सब उन शुकदेव मुनि के अभिमत

ही होंगे, यह सूचित करने के लिए आरम्भ में यह श्लोक जोड़ा गया है। उक्त शुकदेवजी की भी गणना अवतारों में है। इससे उनकी स्तुति और प्रणाम भी भगवत्स्तुति प्रणाम रूप मङ्गलाचरण हुआ। इससे प्रस्तुत निबन्ध के अनुबन्धचतुष्टय का भी संकेत हो गया। जैसे स्वस्वरूपनिष्ठासहकृत भगवद्भक्ति इसका विषय है। निःश्रेयस का इच्छुक इसका अधिकारी होगा। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति इसका प्रयोजन है। श्रीशुकदेव मुनि के द्वारा दृष्ट तत्त्वों का ही प्रतिपादन इस ग्रन्थ में लेखक ने निजी शैली से किया है। यही विषय की प्रामाणिकता का परिचायक सम्बन्ध है ।। १ ।।

सुरभि लसत् पाथेयं
लषत सुमेधसो हरिरताः शान्ताः ।
शिक्षाऽर्थिनः कुमारा-
स्तथाजरन्तोऽपि सुमतिहतमाराः ।। २ ।।

संस्कृतविवरणम्—सुरभीत्यादि—सुरभि सुगन्धभरितम् मनोज्ञं च, लसत्=वाक्शोभाढचम् दूरमार्गयात्रौपयिक माहारमिव प्रस्तूयमानम् पाथेयम् लषत स्पृहयत, के ? सुमेधसः तत्त्व-ग्रहणक्षमप्रज्ञावन्तः, हरिरताः भगवदनुभवरुचिशीलाः, अत एव शान्ताः सुनियन्त्रितकामाः सत्पुरुषाः। एवं शिक्षाऽर्थिनः तत्त्वबोधेच्छवः, कुमारा नववयस्का विद्यार्थिनः तथा सुमतिहतमाराः सद्बोधनिवारित-विषयस्पृहाप्रवाहा जरन्तः वृद्धाश्च। अध्यात्मयात्रौपयिकज्ञानसंग्रह एवात्र सरसभाववत्तया सत्पाथेयत्वेन प्रस्तुतः। सर्ववयसामपि सुचरि-तानां हितस्वादावहोऽयं निबन्ध इति भावः ।। २ ।।

हिन्दी व्याख्या—जैसे दूर के यात्रियों को राह का कलेवा अपेक्षित होता है वैसे ही आत्मकल्याणरूपी दूरगन्तव्य के मार्ग में चित्त के अवलम्बरूपी कुछ कल्याणमय तत्त्व अपेक्षित होते हैं। उनका ज्ञान रहने से बिना विघ्न के कल्याण की प्राप्ति हो जाती है। अन्यथा मार्ग में क्लेश होता हैं, कल्याण भी दूर रह जाता है। अतः कल्याणकामी

सभी अवस्था के अधिकारियों को प्रस्तुत तत्वबोध अर्जित करने में अनुराग रखना चाहिए ॥ २ ॥

ये मानवं वपुरवाप्य न तत्प्रदिष्टम्,
मार्गं श्रयन्ति भवकाननकण्टकाक्ताः ।
तज्जन्म दुर्लभमपार्थमपास्य दोषां-
स्तस्माच्छुभे पथि धियं दधते सुपुण्याः ॥३॥

संस्कृत विवरणम्—ये मानवमित्यादि—ये जना, मानवम् मनुसम्बन्धि, वपुः शरीरम्. अवाप्य लब्ध्वा, तत्प्रदिष्टम्, तेन मनुनेव स्पष्टं निर्दिष्टम्, मार्गम् उज्जीवनोपायम्, भवकाननकण्टकाक्ता (अपि) कानने कण्टकैरिव भवे जगति त्रिविधदुःखैर्व्याप्ता अपि, न श्रयन्ति नालम्बन्ते, दुर्लभम् दुर्घटपुण्यपापसाम्यहेतुकम्, तज्जन्म तस्य जीवनम्, अपार्थम् स्वानुरूपपरमफलानुपलम्भाद् विफलम् (भवति) तस्माद् हेतोः, सुपुण्या असाधारणसुचरितशालिनः, दोषान् रागादीन्, अपास्य दूरीकृत्य, धियम् बुद्धिम्, शुभे पथि भगवदीयमार्गे, दधते धारयन्ति ॥ ३ ॥

हिन्दी व्याख्या—विश्वमानव के आदि पुरुष मनु हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। एक मनु का अधिकार ७१ चतुर्युग से कुछ अधिक समय तक रहता है। उसके बाद दूसरे मनु का समय आता है। एक हजार चतुर्युग पूरे होने पर ब्रह्मा का दिन पूरा होता है। तब वे सृष्टिकार्य रोक करके प्रलय की अवस्था में अपने दिन के बराबर समय तक विश्राम करते हैं। दूसरे दिन दुबारा सृष्टि शुरू करते हैं। ऐसे सृष्टि प्रलय का क्रम चलता रहता है।

प्रत्येक मनु अपनी सन्तान के कल्याण के लिए एक ही वेदोक्त सत्य सनातन नियम का उपदेश देते हैं। उसे ही मनुस्मृति कहा जाता है। ब्रह्माजी के दिन का पूर्वार्द्ध पूरा होने में उनकी घड़ी में बत्तीस मिनिट और लगभग बीस सैकेण्ड बाकी हैं। इतने समय में वर्तमान वैवस्वत मनु के और तेतालीस चतुर्युग आकर पूरे होंगे। इन्होंने भी

अपनी सन्तान के हित के लिए कल्याण के एकमात्र उपाय वेदोक्त मार्ग का उपदेश दिया है। आदि मनु स्वायम्भुव ने जो कुछ बतलाया, वही वर्तमान मनु ने भी कहा है और आगे के सात भी वही कहेंगे। जैसे दो और दो सदा चार ही होते हैं वैसे धर्म का मार्ग भी सदाचार होता है। सत्पुरुषों की जीवनचर्या सदाचार कही जाती है। जो अपने स्वरूप और उससे सम्बन्धित कर्तव्य समझ चुके होते हैं वे सत्पुरुष कहे जाते हैं। सत्पुरुषों का आचरण शास्त्रानुसार ही होता है। मनु ने धर्म की चार पहचान बतलायी हैं। वेदोक्त होना, स्मृति समर्थित होना, सत्पुरुषों के द्वारा सेवित होना और अपने शुद्ध अन्तःकरण को अच्छा लगना। चौथी पहचान के बिना धर्म का अनुष्ठान नहीं होता। इससे यह विशेष आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसे जो रुचे वह वही करे। बल्कि पूर्वोक्त तीन लक्षणों वाले धर्म पर अनुष्ठानोपयोगी अपनी रुचि की भी पहचान कर लेनी चाहिये। किसी भी कारण से किसी श्रेष्ठ धर्म पर भी, किसी देशकाल परिस्थिति वश किसी भी व्यक्ति की रुचि का अभाव और फलस्वरूप अनुष्ठान में अवरोध सम्भव है।

मनु ने जो धर्म मार्ग बतलाया है उसका प्रथम अधिकारी उसकी सन्तान मानव ही है। जो व्यक्ति पिता की मूल्यवान् सम्पत्ति को भूलकर कौड़ियों का संग्रह करता फिरे वह भाग्यहीन और विवेकहीन माना जायेगा। ऐसे ही संसार में रहकर दैहिक-दैविक-भौतिक त्रिविध दुःखरूप कांटों में उलझा होकर भी श्रुतिविदित, मनु आदि के द्वारा स्पष्ट कथित, विज्ञजनों द्वारा अनुष्ठित महान् भगवद्धर्म को भूलकर अनपढ़ अविवेकीजनों द्वारा भूत-प्रेत सदृश देवताओं का सहारा लेकर सन्तुष्ट रहना अच्छा नहीं माना जाता और न उसका कोई शुभ फल ही होता है। साथ ही दुर्लभ मानव-जन्म भी विफल बीत जाता है। यह समझकर सात्त्विक पुण्यशील सत्पुरुषगण चित्त के कामादि विकारों को नियन्त्रित करके भगवदीय मार्ग में मन देते हैं। इस मार्ग में ही यथार्थ

वैदिक ज्ञान है। ज्ञान के अभाव में चित्तशुद्धि न होने से किसी भी परम सत्ता के उद्देश्य से की हुई पूजा चित्तदोष के अनुरूप भूत प्रेत सदृश क्षुद्र देवताओं को ही प्राप्त होती है। उसका फल क्षुद्र ही होता है। संसार छूटता नहीं और दुबारा विविध आकारों में मिलने के लिए शरीर छूट जाता है ॥ ३ ॥

चेतश्चलत्यतितरां विषयेष्ववश्यं,
योगस्थितस्य च चिरात् सुचिरात्तपापम्।
तस्माद् विमुक्तिसमयावधि रक्षणीयम्
मुक्त्वा तदन्त्यसमये हि भवन्ति मुक्ताः ॥४॥

संस्कृत विवरणम्—चिरात् पूर्वानेकजन्मप्रभृति योगस्थितस्य चित्तवशीकारोपायभूताष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिरतस्य चापि सुचिरात्त-पापम् योगारम्भात् पूर्वस्माद् अनादेः कालाद् अर्जितैर्मोक्षविरोधिभिरत्तः पापैः कर्मभिः सम्बद्धम्। अवश्यम् सहसाऽशक्यप्रतीकारम् चेतो मनः विषयेषु शब्दादिषु ललनाऽऽलिङ्गनादिषु अतितराम् निर्मर्यादम् चलति चिन्तनीयं विहाय वर्जनीयेषु विचरति। तस्माद् अस्य विश्रम्भानर्हम् मर्कटचापलम् अवधार्य, विमुक्तिसमयावधि मुक्तिप्राक्क्षणपर्यन्तम् इदम् (विषयेभ्यः संसारसागरतलपर्यन्तपतनहेतुभ्यः शब्दादिभ्यो) रक्षणीयम् सद्बुद्धिसत्सङ्गसत्कर्मप्रायश्चित्ताद्युपायैरर्जितायाम् अनासक्तिदशायाम् एवावस्थापनीयम् अन्त्यसमये अन्तिमशरीरपतनसमये तत् मनः मुक्त्वा सकलकर्मफलविरामतः स्वतो विहाय हि विदितमिदं साधका मुक्ता भवन्तीति ॥ ४ ॥

हिन्दी व्याख्या—आत्मकल्याण के इच्छुकजनों को, समस्त दुःखों से छूटकर निरतिशय आनन्द की प्राप्ति के लिए अपने स्थायी सचिव चित्त की गतिविधियों पर ध्यान रखना चाहिए। अन्य विषयों की ही भांति चित्त का भी अध्ययन सामान्य और विशेष दो प्रकार से होता है। सामान्य अध्ययन पूरा होने पर ही विशेष अध्ययन का प्रसंग

बनता है। इस विषय का दोनों प्रकार से अध्ययन सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, भक्तिशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान से पूरा होता है। यहाँ अति संक्षेप से कुछ उपयोगी तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं। सात्त्विक जितेन्द्रिय व्यक्ति को चाहिए कि वह स्वयं अपने हित से सम्बन्धित और अहित से सम्बन्धित विषयों का विभाग करे और देखें कि हित विषयों में मन कहाँ अधिक लगता है, कहाँ कम लगता है और कहाँ बिल्कुल नहीं लगता। फिर अहित विषयों में कहाँ बिल्कुल नहीं लगता, कहाँ कम लगता है और कहाँ ज्यादा लगता है। यह विवेचन होता ही रहना चाहिए। यह विवेचन अपने आप में स्वयं कल्याण का उपाय बन जाता है।

मनोवृत्ति बड़ी लजीली होती है। अपनी बुराई का निरूपण हो चुकने पर वह स्वयं उससे हटकर अच्छाई से जुटती है। अब चित्त के सम्बन्ध में सामान्य बात यह समझनी चाहिए कि चित अपने आप में कुछ नहीं है। हमारे प्राचीन कर्म हमारे चित्त को घुमाते रहते हैं। अपने सारे के सारे फल हमें उपलब्ध कराने के लिए चित्त को बुरी तरह पकड़े रहते हैं,चेतन स्वयं पापोंसे बचना चाहता है और पुराने पाप उसे बुराईयों की ओर घसीटते रहते हैं, इसीसे चित्त में द्वन्द्व मचा रहता है। यह द्वन्द्व की स्थिति ही मानव जीवन की पहचान है। देवयोनियों में और तिर्यग् योनियों में द्वन्द्व कम होता है। यह द्वन्द्व ही कुछ भाग्यशालियों के आत्मोद्धार की पृष्ठभूमि बनाता है। भारतभूमि की विशेषता है कि इस द्वन्द्व से लाभ उठाने वाले यहाँ अधिक होते हैं।

अस्तु, हमारे प्राचीन कर्म अपने शुभाशुभ फल हमें अवश्य देंगे। यदि हम आत्मोद्धार चाहते हैं तो मिले हुए उन फलों के प्रति उदासीन रह सकते हैं। इससे प्रमादपोषित अज्ञान दुर्बल होगा और उससे होने वाले नये कर्म कम हो जायेंगे। हमारे प्राचीन कर्म अपने अनुरूप नये कर्म कराने के लिए चित्त को वैसी परिस्थितियों से जोड़ने के लिए दवाब डालते हैं। हम यदि विशेष सावधानी बरतें तो बहुत अंशों में

कुसंग से बचकर सुसंग से उत्तम संस्कार पा सकते हैं। प्राचीन कर्म अपने फल देने के लिए अवश्य प्रतिबद्ध होते हैं किन्तु सजातीय नये कर्म कराने के लिए हमारे पुराने सहचर प्रमाद का सहारा लेते हैं। हम सत्संग से प्रमाद को दूरकर नये अशुभ कर्मों से बच सकते हैं। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जिन कर्मों को हम सामान्य रूप से शुभ मानते हैं वे भी अज्ञान की स्थिति में किये जाने पर अशुभ ही होते हैं। उनके शुभ फल अशुभानुबन्धी होते हैं। हमारे चित्त का छाप हमारे कर्मों पर फलसमाप्तिपर्यन्त रहा करता है। राजा नृग ने अगणित शुभ कर्म किये थे, किन्तु एक छोटा-सा बहाना लेकर उनके अज्ञान ने उन्हें गिरगिट बनाकर कुएँ में डाल दिया। अजामिल ने एकबार भयवश अपने पुत्र को उसके नाम 'नारायण' शब्द के द्वारा पुकारा और उसी से वह यमदूतों से बच गया और आगे चलकर दृढ़ता से सन्मार्ग अपना कर मोक्ष प्राप्त किया। अजामिल अजा (माया) से मिलने से पहले शास्त्रज्ञ कर्मनिष्ठ पण्डित था। प्राचीन किसी पाप के फल-स्वरूप वह अजा से मिल गया, किन्तु उसके अन्तः में सुप्त उसका तत्त्व-ज्ञान और उसका पुण्य-प्रभाव बहाना ढूँढ़ने में जागरूक था।

'नारायण' नाम का बहाना पाकर उसे बचा लिया। इन दो उदाहरणों से हमारे चित्तके पर्दे में छिपे हमारे शुभाशुभ कर्मों के विविध अभिनयों में तत्परता का आभास मिलता है। हमारा संघर्ष चित्त से सीधा नहीं होता बल्कि चित्तारूढ़ हमारे फलोन्मुख कर्मों से होता है। कर्म अपने फल देने के लिए हमारे चित्त को सदा अपने अनुरूप ही बनाये रखते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मोद्धार के लिए हम यही कर सकते हैं कि अपने सभी शुभाशुभ फलों के प्रति उदासीन रहें। पुत्रो-त्पत्ति से आनन्दित न हों न पुत्रमरण से शोकाकुल। भोजन में कंकड़ मिलने से थाली न पटकें और कोई अच्छी चटनी मिल जाने पर दुबारा न मांगें। जीवन की सारी शुभाशुभ घटनाओं के प्रति एवं शुभाशुभ भावनाओं के उभारों के प्रति समभाव रखें। साथ ही सदा उन महा-पुरुषों की संगति साक्षात् या पुस्तक आदि के द्वारा करें जो समदर्शी हों,

रागद्वेष से रहित हों, प्रतिशोध की भावना से दूर हों, प्राणिमात्र का हित चाहते हों और आत्मकल्याण के प्रति सावधान सक्रिय हों, और अर्थ काम-परायण पुरुषों के प्रति उदासीन रहें। उनके साहचर्य से अपने-चित्त पर बुरा प्रभाव न पड़ने दें।

यह चित्त अर्थकामपरायण व्यक्तियों की सारी दुर्दशायें तो कराता ही है किन्तु जो लोग अनेक जन्मों से इसे वश में किये आ रहे हैं, फल-स्वरूप बहुत-सी उत्तम सिद्धियों के स्वामी हो चुके हैं उन्हें भी अनायास धोखे में डालकर पतन की पराकाष्ठा तक पहुँचा देता है। क्योंकि यदि किसी की योगसिद्धि दस हजार वर्षों की है तो इसकी पापसिद्धि कई करोड़ वर्षों की है। कभी भी कोई भी बड़ा पाप इस चित्तरूपी पर्दे पर अपना निकृष्टतम खेल दिखा सकता है। योगी की पुरानी प्रतिष्ठा धूल में मिला सकता है। इससे चाहिए कि साधक सदा ही सावधान रहे। कभी भी यह न समझे कि मैं सुरक्षित हूँ। केवल सावधानी ही सुरक्षा हो सकती है। सावधानी की स्थिति में प्राचीन पाप नये पाप नहीं करा पाते। अतः उसी आचार्य से दीक्षा लेनी चाहिये जिसके पास नित्य अवधान सम्पादक मन्त्र हो, और यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक कोई भी शरीर अपने को प्राप्त है तब तक कर्म हैं और वे चित्त को कहीं भी ले जा सकते हैं। बचाव के लिए, मोक्ष के क्षण तक के बचाव के लिए एकमात्र वह मन्त्र और उसका अर्थ सहायक होता है जो सतत कल्याणमय हो, अपने से साधक को जोड़े रहे और फल-स्वरूप प्रमाद की स्थिति न आने दे। जैसे किसी खेल में विपक्ष से पराजय की सम्भावना सदा रहती है, वैसे ही जब तक चेतन का प्रतिस्पर्धी उसीका सहयोगी चित्त साथ है तब तक खतरा है यह न भूलना चाहिए ॥५॥

पञ्चेन्द्रियैर्विशति विश्वमशेषमन्तः,
सर्वक्षणेष्वविदितं विदितं जनानाम् ।
सत्यम्मृषाऽपि न मृषा खलु रागिचित्ते,
त्रैलोक्यधारि सदिदम्प्रगुणाऽव्यवक्तम्यम् ॥६॥

संस्कृत विवरणम्—पञ्चेन्द्रियैः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा-नासाभिः, अविदितं विदितञ्च दोषवत्तयाऽविदितं गुणवत्तया विदितञ्च, अशेषं सकलं, विश्वं जगत्, सर्वक्षणेषु निद्रायामपि सञ्चीयमानसंस्कारविषयतया, जनानां सर्वेषाम्, अन्तः मानसे, विशति स्वानुभवसंस्काररूपेणावतिष्ठते, रागिचित्ते विषयस्नेहशबलिते मानसे, सत्यं न मृषा मृषाऽपि न मृषा सर्वं सत्यमेवावभाति, तदिदं चित्तं स्वसङ्कल्पेन त्रैलोक्यधारि त्रिलोकवर्तिसकलार्थधारणसमर्थम्, प्रभुणा भगवताऽपि अकम्प्यम् वशयितुमशक्यमिवेत्युत्प्रेक्षा, यथा स्वसङ्कल्पेनैव भगवान् जगत् सृष्ट्वा धारयति तथैव मानवचित्तमपि सङ्कल्पेनैव विषयान् वितथानपि आकलय्य संस्काररूपेण धारयति। द्वयोः साम्ये कः कं वशयेदिति चित्तमहिमख्यापनम् ॥५॥

हिन्दी व्याख्या—पूर्व श्लोक में चित्त की चञ्चलता का अदृष्ट कारण प्राचीन पाप कहा गया है। दृष्ट द्वारा ही अदृष्ट सफल होता है इससे दृष्ट कारण बतलाते हैं। मानवचित्त एक ऐसा दर्पण है जिसमें सारा विश्व प्रतिबिम्बित होता है। प्राचीन कर्म अपने अनुरूप विषयों को चित्त से जोड़ते हैं। उन विषयों का प्रतिबिम्ब चित्त में स्पष्ट होता है। वाकी प्रतिबिम्ब धुंधले और बिफल होवे हैं। चित्त में विषयों के प्रवेश का मार्ग श्रवण, नयन, रसना, घ्राण और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां होती हैं। इनके द्वारा विषयों का प्रवेश प्रतिक्षण जारी रहता है, निद्राकाल में इनके अनुभव का संस्कार जमता है। इस तरह सदा ही इनका प्रवेश जारी रहता है। अज्ञानवश हम विषयों को अच्छा माना करते हैं। उनमें केवल अच्छाई देखते हैं। बुराई नहीं देख पाते। वास्तव में कोई भी विषय वैसा नहीं होता जैसा हम माना करते हैं। किन्तु अनुरागभरा चित्त विश्लेषण के लिए तैयार नहीं होता। जैसे छोटा बच्चा खिलौने के लिए मचलता है। वह नहीं सुनना, मानना चाहता कि यह टूट जायेगा या दाम ज्यादा लग रहा है या देर से लेंगे या इसके बदले में मिठाई ले लेंगे। वह खिलौना लेकर ही मानता है

ऐसे ही हमारा चित्त विषयों को अपने से जोड़कर ही, उनके रूप आकार प्रकार आदि पर आकर्षण की भावना बनाकर ही शान्त होता है। चित्त में बसी रमणी ही बाहर दिखाई देती है, वहुत बेकार होने पर भी कल्पना से अच्छी लगती है। उसके लिए मनुष्य भारी से भारी संकट भी झेलता है। उसके पाने के प्रयत्न में जान भी गवां देता है। वह सामने की रमणी के विश्लेषण के लिए तैयार नहीं होता। वह तो संकल्पित रमणी की श्रेष्ठता पर बिककर उससे ही सामने वाली को एक करने का बालहठ ठाने रहता है।

किन्तु जो रमणी के लिए मारा नहीं गया, जिसका विधिवत् विवाह हुआ और प्रेयसी नित्य अनुकूल मिली वह बुरी तरह मारा जाता है। वह कई स्थानों पर बार-बार पिटता रहता है। पिटते-पिटते ही अन्तिम सांस लेता है। जीवन के वास्तव फल से वञ्चित रह जाता है। बेटा-बेटी, नाती-पोते, मित्र-बन्धु, सेवक, घर, खेत, सुवर्ण, रत्न, धान्य आदि सब उस अज्ञानी प्रौढ़ शिशु के पिटने के ही स्थान होते हैं। संघर्ष में वह सब जगह हारता ही है। जहाँ विजय मानता है वहाँ भी बहिर्मुखता रूपी पराजय ही उसके हाथ लगती है। रागातिरेकवश प्राप्त विषयों का विश्लेषण करने में सदा विमुख मानव-मानस भगवान् से बराबरी किया करता है। भगवान् संकल्प से ही विश्व की सृष्टि पालन और संहार किया करते हैं; और यह मानव-मानस अपने अज्ञानमय संकल्प से झूठ-मूठ का संसार बनाकर ढोये फिरता है। इसके विचित्र चरित्र देखकर भगवान् भी इसे सुधारने के बजाय इससे दूर ही रहना पसन्द करते हैं। इससे यह संसार में सदा ही विजयी है ॥ ५ ॥

प्रत्यग्दृशाञ्च विषया निर्विशन्ति चित्ते
सद्गेहसुप्तभवनेष्विव हिंस्रचोराः ।
रक्षत्यशेषभवरक्षणसम्प्रवीणः
श्रीशोऽपितात्ममनसां सकलञ्च योगम् ॥६॥

संस्कृतविवरणम्—प्रत्यग्दृशाम् सर्वबाह्यार्थपरिहारेण स्वस्वरूपमात्रनिष्ठचेतोवृत्तिमताम्, च अपि, चित्ते अन्तःकरणे, विषयाः शब्दादयः, सद्गेहसुप्तभवनेषु सुदृढभवनाभ्यन्तरशयितपुरुषाणाम् अल्परक्षितभवनभागेषु, हिंस्राश्चोरा इव निविशन्ति मनसोऽति चाञ्चल्यात् अन्तर्वृत्तिदशायामपि वाह्यविषयक्षणिकसंसर्गसम्भवेन संस्काराणाम् अन्तरेव परिणामक्रमाविरामेण च प्रविशन्ति प्रवेशफलम्बहिर्मुखत्वं जनयन्ति। (अत्र) अशेषभवरक्षणसम्प्रवीणः समस्तसंसारावस्थाऽवस्थापनकुशलः, श्रीशः सर्वैश्वर्यनिर्वाहनिपुणो भगवान् अर्पितात्ममनसाम् स्वं स्वकीयञ्च सकलम् भगवदेकाधीनं, तद्धार्यं, तच्छेषं च सदा जानानानाम्, सकलमपि निःशेषम्, योगम् रक्षोपायम्, रक्षति यथोचितम् अवस्थापयति ॥ ६ ॥

हिन्दी व्याख्या—ऐसा नहीं है कि शब्दादि विषय केवल संसारी पुरुषों के हृदय में अपना प्रभाव डालते रहते हैं। ये तो ध्यानावस्था में भी योगियों को भी नहीं छोड़ते। उस समय भी धारणाध्यानप्रयत्न के बीच अति तीव्र चित्त क्षणभर के लिए अज्ञात रूप से भी विषयों से इन्द्रियों के द्वारा या सीधे जुट जाता है। अन्य विषयों के संस्कार तो अपने क्रम से साधनावस्था में भी पुष्ट होते रहते हैं। इसीसे युवा योगी अवस्था ढलने पर विषयोन्मुख देखा जाता है। ऐसी स्थिति में चित्त की केवल अन्तर्मुखता सुरक्षा की निर्भरता नहीं हो सकती। जैसे कोई व्यक्ति पक्के सुरक्षित मकान में सोया हो तो भी कम सुरक्षा वाले भागों में हिंसक चोर घुसकर स्वामी की कुछ बहुत क्षति पहुँचा ही देते हैं। सुरक्षा तो एकमात्र भगवान् ही देते हैं। जो लोग अपने को अपना रक्षक न मानकर केवल भगवान् को अपने सहित सारे विश्व के रक्षक मानते हैं, साथ ही भगवान् में ही सारे प्राणियों को आश्रित समझते हैं उनकी रक्षा भगवान् की ओर से अधिक होती है। उनका ज्ञान आत्मोद्धार के निकट होता है इससे भगवान् की आत्मीयता उनके प्रति अधिक होती है। [illegible]

रक्षा दो प्रकार की होती है। कर्मानुसार और मोक्षप्रयत्नविशेषानुसार। दूसरी रक्षा के भागी विरल होते हैं। उनका उक्त भाव ही उनकी रक्षा का मुख्य प्रयोजक होता है॥ ६॥

योऽनर्घ्यं योगपथमाश्रयते स पापै-
र्युध्यत्यनादिसमयावधि संगृहीतैः।
मध्ये जयापजययोर्विचरन् युगानां,
कोटिं नयन् स्फुरति खे बहुधा सिताभः॥७॥

संस्कृतविवरणम्—यः मुमुक्षुः, अनर्घ्यं श्रौतम्पूर्णम् भगवदधीनत्वम् अमन्वानः, योगपथम् साङ्गान् धारणाध्यानसमाधीन्, (मुक्तये) आश्रयते अवलम्बते, सः अनादिसमयावधिसंगृहीतैः अशक्यसंख्यानैः, पापैः मोक्षविरोधिकर्मभिः योगविरोधिनानोपद्रवहेतुभिः, युध्यति विवशस्तत्तदुपद्रववारणोपायान् मृगयमाणस्तिष्ठति, (एवंस्थितौ सः) जयापजययोर्मध्ये विचरन् कदाऽपि साधने प्रगल्भते कदाऽपि विघ्नहतो विषीदति, युगानां कोटिम् अगणितानन्तजन्मसमयम्, नयन् मुधा क्षपयन्, बहुधा प्रायेण, सिताभः शुक्रग्रह इव, यथा स कदाऽपि रविसन्निहितः स्वल्पो भवति, अस्तं गच्छति पुनः क्रमेणोदेति वर्धते प्रकाशते पुनश्च क्षयावस्थायाम् भवति एवम्, खे निरालम्बे भगवदाश्रय विहीने मार्गे, स्फुरति लोकानाम् अनुभवविषयो भवति॥७॥

हिन्दी व्याख्या—मोक्ष के लिए प्रयत्नशील जो व्यक्ति श्रुतिविदित इस तथ्य को हृदय से स्वीकार नहीं करता कि सारे चेतन (जीव) बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थाओं में परमात्मा के नियन्त्रण में रहते हैं, उनके सब प्रकार से रक्षक वे ही हैं, मोक्ष उनकी कृपा से ही प्राप्त होता है, फलतः वह हृदय से परमात्मा के प्रति समर्पित नहीं होता और अष्टाङ्ग योग के सहारे मुक्ति का प्रयत्न करता रहता है उसके अनादिकाल से सञ्चित मोक्ष विरोधी कर्म समाप्त नहीं होते इससे वह निर्विकल्प निर्बीज उस समाधि की स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाता है जिसके होने पर योगशास्त्र के अनुसार मोक्ष हो जाता है। ऐसी स्थिति

में वह चित्तवृत्ति में विघ्नों के रूप से स्फुरित होने वाले अपने अनादि अगणित कर्मों से लड़ता रहता है। कभी कुछ लम्बे समय तक उसका चित्त वश में रहता है तब वह सफलता मानता है और फिर किन्हीं कर्मों के विपाक से विघ्न होने लगते हैं, प्रयत्न से भी वे दूर नहीं होते तब उनसे हार मानने की स्थिति में आ जाता है। उसकी स्थिति उस शुक्र ग्रह की-सी होती है जो सूर्य से दूर रहने पर चमकता है और निकट होने पर धुन्धला होकर अस्त हो जाता है, कुछ समय बाद उदय की स्थिति में आकर प्रकाश बढ़ाता है और फिर क्षय शुरू होने लगता है। सृष्टि के आरम्भ से ही शुक्र को सूर्य से संघर्ष करना पड़ रहा है। अनन्त बार वह चमका है, अस्त भी हुआ है। जब तक सृष्टि है तब तक यही क्रम चलते रहना है। इसी प्रकार अन्तिम लक्ष्य न पाने पर भी अष्टाङ्गयोगी सफलता, विफलता के बीच विश्व के आकाश में अपना रमणीय प्रकाश फैलाता रहता है ॥ ७ ॥

यावद्वपुर्वहति कर्मकृतञ्चिदात्मा,
तावत्प्रमादपरिवाहनिपातभीतिः ।
ज्ञानावलम्बमथ सत्पुरुषावलम्बं,
सत्कर्मसङ्गमपि हन्त्युदितः प्रमादः ॥८॥

संस्कृतविवरणम्—आत्मोद्धारमार्गे महाऽवरोधः प्रमादो वारणीय इति तम्प्रस्तौति—यावदिति। चिदात्मा नित्यस्वयम्प्रकाशो जीवात्मा, यावत्कालं कर्मकृतम् क्रमिकनानाशुभाशुभफलोपस्थापकपुण्यापुण्य-प्रारब्धकर्मजनितम्, वपुः शरीरम्, वहति धारयति, तावत्पर्यन्तम् आमुक्तेरिति यावत्, प्रमादपरिवाहनिपातभीतिः स्वरूपविस्मृतिजनित-नव-नवशुभाशुभकर्मतत्फलभोगप्रवाहपतनभयम् भवति, उदितः पूर्वम-विद्यमानोऽपि साधनावस्थायां यत्किञ्चित्कर्मपरिपाकवशादुत्पन्नः, प्रमादः विषयानुभवजहर्षजनिता स्वरूपविस्मृतिः, ज्ञानावलम्बम् अर्थ-पञ्चकबोधम्, आत्मस्वरूपमात्रबोधं वा, सत्पुरुषावलम्बम् भगवदा-
[illegible] सत्कर्मसङ्गम् [illegible]

स्मार्तभगवद्भागवताराधनरूपं कल्याणकृत्यजातम्, अपि हन्ति विफलीकरोति विनाशयति च ॥ ८ ॥

हिन्दी व्याख्या—आत्मकल्याण के मार्ग में प्रमाद सबसे बड़ा अवरोध होता है। बचाव के लिए उसे प्रस्तुत करते हैं। स्वयं प्रकाश स्वरूप जीवात्मा जब तक कर्मजनित शरीर धारण करता है तब तक यानी जब तक मुक्तावस्था न हो जाये तब तक प्रमाद की धारा में गिरने का यानी प्रमाद-जनित नये-नये कर्मों और फलों के भोग में पड़ने का भय बना रहता है। किसी भी पूर्व कर्म के प्रभाव से जब प्रमाद उत्पन्न हो जाता है तो ज्ञान कर्म सत्सङ्ग ध्यान आदि कल्याण के सभी उपाय 'विफल' हो जाते हैं। आगे वे ठहरते भी नहीं। प्रमाद कभी भी हो सकता है। उपाय सभी छूट सकते हैं। वह न हो इसके लिए प्रभु से हार्दिक प्रार्थना करते रहना आवश्यक है ॥ ८ ॥

विस्फोटवद्वपुषि चेतसि जायतेऽयं,
कर्मप्रवाहपतितस्य सुचेतसोऽपि ।
तस्माद् हरिं विविधवेषमुपाश्रयन्तः,
सम्प्रार्थयन्त्यनिशमेव हिताय सन्तः ॥९॥

संस्कृतविवरणम्—सहसोत्पादिनोऽस्य दुर्वारतामाह विस्फोटवदित्यादि। सुचेतसः विवेकिनः, अपि मुमुक्षोः, कर्मप्रवाहपतितस्य नवनवकर्मफलभोगानुषङ्गिकर्मधारायामिव प्रवहमानस्य, वपुषि शरीरे, विस्फोटवद् अन्तरुद्भूतव्रणादिवदकस्मादिव असम्भाव्यपूर्ववारणोपायश्चेतसि मानसे, अयम्प्रमादो विषयानुभवजनितहर्षविशेषप्रयुक्तस्वरूपविस्मरणरूपः, जायत उत्पद्यते। तस्मादेवम्माभूदेतदर्थम्, सन्तः भगवदनुभवरतिमन्तः, विविधवेषम् नानावतारार्चारूपधारिणम्, परमात्मानम् उपाश्रयन्तः शरणत्वेनाङ्गीकुर्वन्तो, हिताय अविघ्नकल्याणाय, अनिशमेव प्रमादविस्मृतिशून्यतया सम्प्रार्थयन्ति तनुवाङ्मनोभिः स्वहितायैताम् प्रस्तुवन्ति ॥ ९ ॥

हिन्दी व्याख्या—शरीर में फोड़ा कभी भी हो जाता है। वह बहुत कष्ट देता है। होने के बाद ही परिणाम के समय उसका पता चलता है। स्वास्थ्य के नियमों के पालन होते समय भी वह हो जाता है। ऐसे ही यह प्रमादरूपी फोड़ा भी विवेकशील साधक के भी चित्त में सहसा उत्पन्न होकर अनर्थ प्रस्तुत कर देता है। ऐसा न हो इसके लिए सत्पुरुष विभिन्न रूपधारी भगवान् के किसी भी रूप को रक्षक मानकर उनसे आत्मरक्षा के लिए सतत प्रार्थना में लगे रहते हैं। प्रार्थना के अभाव में ही प्रमाद को अवसर मिलता है ॥९॥

भूयः पतन्नपि समुत्थितिसद्गतीप्सु-
र्बालश्चिराय यतते विजहन्निराशाम् ।
वृद्धोऽपि दण्डसचिवः पतनप्रतीपं,
सञ्चेष्टते शुभधियोऽपि तथा यतन्ते ॥१०॥

संस्कृतविवरणम्—विघ्नेऽपि श्रेयसे यतितव्यमिति दृष्टान्तेनाह—भूय० इति। भूयः पुनः पुनः, पतन्नपि, समुत्थितिसद्गतीप्सुः दृढोत्थानपूर्वकं समुचितां गतिं वाञ्छन्, बालः शिशुः चिराय सामर्थ्यलाभपर्यन्तम्, यतते उत्थानगत्योर्यत्नशीलो भवति, एवं सन्निहितमरणो वृद्धोऽपि, दण्डसचिवः दण्डसहायः, पतनप्रतीपम् समुचितगमनानुकूलम्, सञ्चेष्टते सावधानम् मन्दं क्रमते, शुभधियो निरतिशयकल्याणकामा मुमुक्षवोऽपि, तथा दृष्टान्तभूतशिशुवृद्धवत्, यतन्ते आपतितप्रमाद प्रतीपं साफल्याय ध्यानादि प्रार्थनादियत्ननिरता भवन्ति ॥१०॥

हिन्दी व्याख्या—प्रमाद आदि विघ्न तो जीवन में आते ही रहते हैं। निर्विघ्न जीवन देखने सुनने को नहीं मिलता। विघ्न हो जाने से कोई अपना कर्तव्य छोड़ देना नहीं चाहता। बच्चा बार-बार गिरकर उठता और चलने लगता है। इसी तरह कोई बूढ़ा अपनी कमजोरी से गिरने लगता है तब डण्डा लेकर चलता है और गिरने से अपने को रोकता है। ऐसे ही आत्मकल्याण की दिशा में साधक भी प्रमादजनित

विघ्नों से निराश न होकर आगे पुनः विघ्न से बचने के लिए सावधान यत्नशील रहते हैं ॥१०॥

यावत्क्षणाय च हरिं गुरुमात्मनीनं,
विस्मृत्य सञ्चरति बाल इव प्रसूंस्वाम् ।
तावत्प्रमादभगिनी कुमतिश्चिरेण,
मुक्त्यै यतन्तमपि हन्ति कुमोहगर्ते ॥११॥

संस्कृतविवरणम्—यावत् यदैव क्षणाय च क्षणमात्रमपि, आत्मनीनं जगद्गुरुत्वात् स्वस्यापि, गुरुम् अज्ञाननिवर्तकं यथार्थज्ञान-सम्पादकम्, हरिम् भक्तपापहारिणम्भगवन्तम्, बालः शिशुः, स्वाम् प्रसूंजननीम्, इव विस्मृत्य उपेक्ष्य, सञ्चरति मुक्त्यै वा अर्थकामाभ्यां वा व्याप्रियते, तावत् तदैव, प्रमादभगिनी स्वरूपविस्मृत्युत्तरभाविनी, कुमतिः विषयेषु भोग्यताबुद्धिः, चिरेण बहुकालात्, मुक्त्यै मायाबन्धाप-गमाय, यतन्तं धारणाध्यानादिव्यापारनिरतमपि, कुमोहगर्ते विषयेषु नवोत्पन्ने त्यागाशक्यत्वभावनारूपे खाते, निस्तारायोग्यावसरे च, हन्ति नाशयति वितथसर्वोद्यमं विषयपरवशं करोति ॥११॥

हिन्दी व्याख्या—लोकव्यवहार में देखा जाता है कि जो व्यक्ति अपने आपको भूलता है वही सामने वाले को भी सही रूप से नहीं समझ पाता और धोखा खा जाता है। सामने वाले से अपने सबन्ध को वह बहुत कम समझ पाता है। धोखे का मूल कारण यही होता है। परमार्थ पथ में यह नियम और भी कठोर रूप से लागू होता है। आत्म-कल्याण कहें या मोक्ष कहें या आत्मोद्धार कहें या कैवल्य कहें उक्त अवस्था की प्राप्ति में प्रमाद प्रबल बाधक है। किसी सन्तुष्टि के फल-स्वरूप अपने को, अपने कर्तव्य को या दोनों को भूलकर किसी अहित कृत्य में लिप्त हो जाना, प्रमाद कहा जाता है। साधनावस्था में भी कोई न कोई विषयानुभव होता रहता है। उससे कोई सन्तुष्टि होती है। फलस्वरूप उस विषय से अपने को जोड़कर देखने की स्थिति से अपना ध्येय रूप भूल जाता है। अपने ध्येय रूप में कोई भी लौकिक

विषय नहीं जुटता। भगवत्तादात्म्य भगवदधीनता तदाराधनतत्परता आदि रूप ही ध्येय होते हैं। इन ध्यानों में भगवान् की प्रधानता रहती है। किसी भी कारण से यदि ध्यान की यह धारा टूटती है तो वहां तुरन्त विषयानुभव प्रमाद और मोह की स्थिति बन जाती है। जीव अनादि काल से मोह में पड़ा रहता है। यदि किसी पुण्य से कुछ क्षण दिन मास वर्ष युग तक मोह से वञ्चित रहता भी है तो अति प्राचीन मोह उसका पीछा नहीं छोड़ता और क्षण भर के प्रमादरूपी छिद्र से उसके हृदयगुहा में प्रवेश करके अपना पुराना अधिकार कायम कर लेता है। इससे आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति अपने मुख्य ध्येय से कभी विरत नहीं होते। जैसे भगवान् सदा मङ्गलमय हैं वैसे सांसारिक विषय सदा ही अमङ्गलमय हैं। क्षण भर भी उनको अपने हृदय में पूर्व संस्कारवश स्थान दे देना भगवान् को सदा के लिए विदा कर देना होता है। सादर सम्बोधित, सम्भाषण-निरत, निरतिशय श्रद्धाऽऽस्पद किसी महान् की अनुज्ञा के बिना किसी क्षुद्र व्यक्ति या अर्थ से क्षण भर भी संसर्ग साधना, उस महान् का वह अपमान होता है जिसका कोई प्रतीकार सम्भव नहीं ॥११॥

तत्त्वेक्षणक्षयमुशन्ति विदः प्रमादं,
राग रुणद्ध्यनुमतो बत बोधधाराम्।
क्रीडाप्रसक्तशिशुवत्क्षपितस्वविद्या,
रागानुषक्तमतयो यतयः पतन्ति ॥१२॥

संस्कृतविवरणम्—विदो विद्वांसः, तत्त्वेक्षणक्षयम् शुद्धज्ञानमयाऽऽत्मतत्त्वमननरूपाया दृष्ट्या रागादिभिः शैथिल्यक्रमेण विनाशम्, प्रमादम् उशन्ति प्रमादसंज्ञां ददति। अनुमतो रागो बोधधारां रुणद्धि बत। अयमेव प्रमाद इत्यर्थः। रागानुषक्तमतयो. रागः संस्कारात् किञ्चिद् उद्भवति उपेक्षयाऽसौ घनी भवति तदा तत्त्वदृष्टिस्थाने विषयरागो वर्धते, तदा यतयो मोक्षार्थं यतमाना महात्मानोऽपि न तत्त्वनिष्ठा अपि तु विषयरागप्रभावितधियो भवन्ति, तेन क्रीडाप्रसक्त-

शिशुवत् क्षपितस्वविद्याः, शिशूनां क्रीडा स्वाभाविकी किन्तु तत्र रागातिशयेन ते प्राप्तामपि विद्यां रक्षितुं न पारयन्ति। तथैव महात्मानोऽपि पूर्वसंस्कारहेतुकं रागमनुपेक्ष्य लालयमाना विस्मृतसकलतत्त्वज्ञानाः प्रमादिनो लक्ष्यात् पतन्ति विषयलाभचिन्ताव्याकुला भवन्ति ॥ १२ ॥

हिन्दी व्याख्या—तत्त्वज्ञान का सहायक और रक्षक होता है वैराग्य। विषयों के प्रति राग का उदय न होना या उदय होते ही सावधानी से चित्त को ज्ञानमय बनाकर उस क्षणिक राग को नष्ट करते रहना वैराग्य कहलाता है। ज्ञान और वैराग्य परस्पर सहायक होते हैं। जन्मान्तरीय शुभ-संस्कार से ज्ञाननिष्ठा होती है। उससे वैराग्य स्वतः हो जाता है। वह वैराग्य वाञ्छित ज्ञान के अर्जन में सहायक होता है। उपलब्ध ज्ञान वैराग्य को दृढ़ता देता है तब आगे ज्ञान का और विकास होता है, उससे वैराग्य का स्तर भी बढ़ता है, वह व्यापक होने लगता है। इसी क्रम से ज्ञान विश्वव्यापी बनता है और वैराग्य से माया का बन्धन कटता जाता है। मोक्ष सुलभ हो जाता है।

यह बात सोचना बहुत आसान है किन्तु चित्तपटल पर पूर्वकर्मों का विचित्र खेल रोकना आसान नहीं है। उन कर्मों के द्वारा विषय कभी चित्त को सीधे प्रभावित करते हैं और कभी समाज के प्रति दायित्व, कभी राष्ट्र के प्रति दायित्व, कभी किसी दुःखी के प्रति सहानुभूति आदि भावों के माध्यम से वे चित्त पर कब्जा जमाकर प्रमाद उत्पन्न कर देते हैं। प्रमाद से ज्ञान लुप्त हो जाता है और साधना भूल जाती है तब मोक्षलाभ के स्थान पर विषयलाभ की चिन्ता होने लगती है। यही योगियों का पतन कहलाता है ॥१२॥

नारी प्रमादजननी रभसाऽन्तरङ्गम्,
व्याप्नोत्यकालसुमवद्रमणीयवेषा ।
मृत्योः क्षणेऽपि न जहात्यनिषेवितेव,
न्यस्तात्मनामपि धियं रभसा रुणद्धि ॥१३॥

संस्कृतविवरणम्—इदानीम् प्रमादानुदयाय नारी तद्विशेषबोध-पुरस्सरम् मनसा वर्जनीयेति श्लोकचतुष्टयेनाह—नारीति। अकाल-सुमवद् असमयसुविकसितपुष्पवद् रमणीयवेषा आकर्षकवार्ताचेष्टाभूषण-परिधाना प्रमादजननी ध्येयोपेक्षाकरी नारी स्त्री अन्तरङ्गम् चित्तम् सहसा अविलम्बेन व्याप्नोति विषयान्तरप्रतिक्षेपेण स्वमात्रनिष्ठानुरागेण बध्नाति, बहुसेविताऽपि अनिषेवितेव दुर्वारोत्कण्ठाजननी मृत्योः प्राणान्तस्य क्षणेऽवशिष्टजीवनावधिसूक्ष्मांशेऽपि न जहाति रागि-चित्तान्नावरोहति। सेयं न्यस्तात्मनाम् असन्दिग्धशास्त्रज्ञानपूर्वकम् भगवदर्पितसकलस्वीयस्वानाम् अपि धियम् तत्त्वबोधम् रभसा सर्व-शास्त्रज्ञानतिरोधानक्षमबलेन रुणद्धि शास्त्रेभ्योऽपवार्य स्वस्मि-न्नियमयति ॥ १२ ॥

हिन्दी व्याख्या—प्रमाद से बचाव के लिए स्त्रियों के परहेज का सुझाव देते हैं। जैसे बिना ऋतु के खिलने वाले फूलों पर विशेष आकर्षण होता है वैसे ही स्त्री कभी भी आकर्षण उत्पन्न कर देती है। उसकी बोली हाव-भाव भूषण परिधान सब कुछ मन को खींचते हैं। इससे साधक सत्पुरुष का ध्यान अपने ध्येय से बहुत दूर हो जाता है और उनके चित्त पर केवल वही सवार हो जाती है। इसके प्रति पुरुष की स्पृहा कभी शान्त नहीं होती। बहुत सेवन के पश्चात् मृत्यु के आ चुकने पर भी मृत्यु से भय न होकर उसके प्रति नयी जैसी ही उत्कण्ठा होती है। यहाँ तक कि जो साधक चिरकाल तक असन्दिग्ध शास्त्र-ज्ञान अर्जित करके अपना सर्वस्व और स्वयम् अपने को भी भगवान् में पूर्णरूप से समर्पण कर चुके होते हैं जिससे किसी भी विषय के प्रति स्पृहा होना उनके लिए घोर अनैतिकता होती है उनके भी चित्त को यह नारी जबर्दस्ती अपने अधीन कर लेती है जिससे उनका सारा चिर-कालिक ज्ञानमय तप खण्डित हो जाता है और साधनापथ पर बहुत पहले जहाँ से चले होते हैं वहाँ से भी पीछे हो जाते हैं। अतः साधक को ऐसी स्थिति में रहना चाहिए जिससे चित्त में स्त्री का कोई चित्र न

बन पाये। इसके लिए भगवत्स्मृतिसन्तान बनाये रखना चाहिए। यहाँ यह शास्त्रादेश ध्यान में रखना चाहिए—

एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते।
दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुम्भृशम्॥
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवो न चिन्तितः॥

दोनों श्लोकों का फलितार्थ है कि जिस क्षण भगवान् की स्मृति टूटती है उसी क्षण चित्त से कोई विषय जुटता है। विषय का ध्यान ही जारी स्मृति को तोड़ता है। तब वह विषय, चित्त में किसी रोगाणु की भाँति अति सूक्ष्मरूप से प्रवेश करके सञ्चित राग के सहारे बढ़कर आगे चलकर समग्र चित्त को अस्त-व्यस्त करके संसारगर्त में गिरा देता है। इससे क्षणभर की विस्मृति एक कल्प तक नरकवास का कारण बन सकती है। जो लोग यह तथ्य समझते हैं वे विस्मृति से उतना ही दुःखी होते हैं जितना डाकुओं के द्वारा सर्वस्व लुट जाने पर संसारीजन दुःखी होते हैं॥ १३॥

नास्यां रसः स्वरसमेव नरोऽत्र मोहात्-
पश्यत्यलं स्वकरदर्पणवक्त्रतुल्यम्।
तस्याः स्मयं निजपराभवजं विलोक्य,
भूयःस्मयो यममुखस्मयकृत्कुबुद्धिः॥१४॥

संस्कृतविवरणम्—अस्यां नार्याम् रसः पुरुषगुणानुरागो रमणीयताहेतुर्गुणो वा वस्तुतो नास्ति, नरः पुमान्, अत्र स्त्रियाम्, मोहात् अविवेकात्, स्वरसम् एव स्वगतं तदनुरागम्, स्वात्मगुणान् वा नान्यत् स्वकरदर्पणवक्त्रतुल्यम् निजहस्तगतकाचफलके दृश्यमाने स्वमुखप्रतिबिम्बेऽनुभूयमानं सौन्दर्यम् इव स्वगतमपि पुरोगतम् इव, अलं नितराम् पश्यति अवधारयति, निजपराभवजं तल्लिप्साविवशता-रूपपराभवोत्पन्नं, तस्या नार्याः, स्मयम् मन्दहासम्, विलोक्य तस्यां

स्वविषयकानुरागं कल्पयित्वा, भूयःस्मयः बहुलसुखानुभवजन्यहासः,

कुबुद्धिः भ्रान्तिवशः, यममुखस्मयकृत् मिथ्यामायाऽनुरागतिरस्कृत-स्वविवेकं विफलमानवजीवनं स्वविषयं सत्वरमाव्रजन्तमवलोक्य चकित इव यमः स्मयते तत्प्रयोजकोऽयम्भवतीत्यर्थः ॥१४॥

हिन्दी व्याख्या—स्त्रियाँ सामान्यतया गुणपक्षपातिनी नहीं होतीं। उन्हें पुरुषों के किसी अच्छे गुण का ध्यान नहीं होता। फलतः उन्हें अनुराग या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो अति निकृष्ट। फिरभी पुरुष इस भ्रममें रहा करता है कि यह मुझे चाहती है। वास्तव में पुरुष अपने हृदय के अनुराग को ही स्त्री में ऐसे देखता है जैसे हथेली के दर्पण में दिखाई पड़ने वाले अपने मुख की सुन्दरता को अपने से भिन्न प्रतिविम्ब में देखता है। स्त्री जब उसे देखकर मुस्कुराती है तो वह मान बैठता है कि यह मुझे अच्छा मानती और चाहती है जबकि उसकी मुस्कुराहट का कारण कुछ और ही रहता है। वह तो पुरुष को देखते ही जान जाती है कि यह मुझ पर बिक गया है, मुझ पर लट्टू हो गया है, अब कहाँ जायेगा। वह तो उसे अपने झूठे फन्दे में फँसा जानकर मुस्कुराती है। इस तथ्य से बेखबर पुरुष बिना उपलब्धि के ही बड़ी उपलब्धि मानकर हँसने लगता है। उसकी हँसी पर यमराज को हँसी होती है। वे समझते हैं कि देखो कैसी विचित्र माया है कि न तो स्त्री चाहती हैं, न उसकी चाह कोई अच्छी बात है फिर भी यह पुरुष भ्रम में पड़कर अपने विवेक को ताक पर रखकर अपने स्वरूप, वास्तव स्वभाव और कर्तव्य को भूलकर केवल इसी के चिन्तन में लीन है जबकि इसकी बची हुई बहुत कम आयु समाप्त ही हो चुकी है और यह शीघ्र ही मेरे देश में आरहा है जहाँ इसके सारे किये का लेखा-जोखा होगा, जिसमें इसका ऐसा कोई शुभ कर्म नहीं मिलेगा, जिससे आगे भी कुछ कल्याण हो सके ॥१४॥

पुम्भ्यः स्त्रिया वपुषि सन्ति यथा विशेषा-
श्चित्तेऽपि रागमहिमाऽस्ति तथैव तासाम्।
क्लेशं वहन्ति वियुताः पुरुषास्तु धैर्यं,
ज्ञानाश्रयं न पुरुषत्वमिदन्तु हास्यम् ॥१५॥

संस्कृतविवरणम्—स्त्रिया वपुषि कलेवरे यथा पुम्भ्योऽपेक्षया विशेषा लावण्यातिशयस्तनकेशसंन्निवेशादयः सन्ति भवन्ति तथैव तासां चित्तेऽपि पुरुषापेक्षया रागमहिमा पारिवारिकेषु दुर्निवारा क्लेशमूलं रतिरपि भवति। तेन ताः पतिपुत्रवैभवादिवियुताः पुरुषापेक्षयाऽधिकं क्लेशं वहन्ति। पुरुषास्तु वियुता ज्ञानाश्रयं ज्ञानहेतुकं ज्ञानहेतुं च धैर्यं वहन्ति। इदमेव पुरुषस्य पुरुषत्वम्। इदन्तु पुरुषेण न केवलं वियुतौ, संयुतावपि न हाप्यम्, न त्यक्तव्यम्। ओहाक् त्यागे। पुरुषेण सदैव शास्त्रवशधिया भाव्यं न तु ललनानुबन्धानुवद्धधियेति तात्पर्यम् ॥१५॥

हिन्दी व्याख्या—पुरुष को आत्म-कल्याण के लिए अपने पौरुष की रक्षा करनी चाहिए। अतिशय स्पृहाविषय नारी जाति से अपने भेद को नहीं भूलना चाहिए। शारीरिक की भाँति उनमें कुछ मानसिक भी विशेषतायें होती हैं। उनके चित्त में पुरुषों की अपेक्षा शरीर सम्बधियों में राग बढ़ा रहता है। उसे वे कम नहीं कर पातीं। इससे इष्टवियोग की अवस्था में अधिक क्लेश भोगती हैं, जबकि पुरुष वैसी अवस्था में अपना धैर्य सम्हालने का प्रयत्न करता है। यही पुरुष का पुरुषत्व है। इसे न केवल वियोग के समय सम्हालना चाहिए बल्कि संयोग में भी सम्हाले रखना चाहिए। तात्पर्य है कि पुरुष को अपनी सारी मनोवृत्तियाँ शास्त्रीय संस्कारों से जोड़े रखनी चाहिए। विषयों के सम्पर्क में रहकर भी चित्त में उन्हें अधिक स्थान नहीं देना चाहिए। यहाँ भगवद्गीता का श्लोक—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यम्प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(भगवद्गीता २।७०)

याद रखना चाहिये। इसका भाव है कि जिसके विपुल शास्त्रज्ञानजन्य स्थिर अगाध तत्त्वनिष्ठारूपी समुद्रमें सभी विषयसंगसम्भव सुख नगण्य रहते हैं वही शान्ति का भागी होता है न कि तत्त्वचिन्तन भूलकर विषयों में स्पृहा रखने वाला ॥१६॥

हस्तं तुदन्ति सरघाः स्वनिवासलग्नम्,
प्रायो निसर्गविरसे वपुषि प्रसक्तम् ।
चित्तं तुदन्ति सुधियां रमणीविशेषा-
स्तत्प्रेक्षणं निरय एव विवर्जनीयम् ॥१६॥

संस्कृतविवरणम्—सरघा मधुमक्षिकाः, स्वनिवासलग्नम् मधुहरणपरम्, हस्तं नराणां करम्, तुदन्ति दशन्ति, एवमेव प्रायो विशेषेण, निसर्गविरसे गुणोदासीनस्त्रीप्रकृत्यैव निरनुरागे, वपुषि शरीरे, प्रसक्तम् विशेषाकृष्टम्, सुधियाम् मुमुक्षूणाम्, चित्तम् अन्तःकरणम्, रमणीविशेषा हावभावकटाक्षस्पर्शादयस्तुदन्ति तत्त्वबोधवैमुख्यापादनेन व्यथयन्ति तस्मात् निरय एव नरकाभिन्नं, तत्प्रेक्षणं तासु दृङ्नियमनं विवर्जनीयम् कदापि तासु दृष्टिर्न योजनीयेत्यर्थः ॥१६॥

हिन्दी व्याख्या—स्त्रियों की सारी विशेषतायें मधुमक्खियों की भाँति कष्टप्रद हैं। उनके छत्ते पर पड़े हाथों को वे डस कर कष्ट पहुँचाती हैं। ऐसे ही अपनी ओर पहुँचे हुए साधक के चित्त को स्त्रियों की विशेषतायें लक्ष्य से हटाकर व्यथित करती हैं। यह नहीं है कि उनको देखने से नरक होता है बल्कि उनको देखना ही नरक है। उन पर पड़ी हुई दृष्टि अपने समय में ही नरकतुल्य कष्टबहुल होती है, इससे उधर दृष्टि न डाली जाये ॥१६॥

विस्मृत्य सद्गुणगणौघमहार्णवं ये
श्रीशं, सुखाय कुधियो मनसा श्रयन्ते ।
भूतोत्थनिन्द्यतमवेषभृतः कुजन्तू-
स्तेषां हिताय निगमा अपि नोत्सहन्ते ॥१७॥

संस्कृतविवरणम्—भगवद्विस्मृतिरेव सर्वानर्थबीजमित्याह विस्मृत्येत्यादि। ये सुखेच्छवः सद्गुणगणौघमहार्णवं त्रिगुणातीतानां कल्याणमयानां गुणसमुदायानाम् महार्णवम् अनन्तसमुद्रम्, श्रीशम् लक्ष्मीपतिम्भगवन्तम्, विस्मृत्य अनादृत्य, कुधियः

सुखाय सुखलाभाय, भूतोत्थनिन्द्यतमवेषभृतः स्थूलसूक्ष्मभूतमयशरीराणाम्परिणामित्वं तेन स्वेदादिमयत्वं कर्ममयत्वादनेकाशुभलक्षणवत्वं च दुर्वारम् तेन निन्द्यत्वं शुद्धसत्त्वमयाप्राकृतविग्रहापेक्षया निन्द्यतमत्वञ्च युक्तम्, वेषत्वेनेह देहवस्त्रभूषणायुधवाहनादि सर्वं ग्राह्यम् तद्भृतः तद्वतः प्राकृतस्त्रीपुरुषप्रभृतिसकलकर्ममयदेवान्तजीवेषु मध्ये यान् कांश्चिदपि कुजन्तून् कर्मवश्यान् प्राणिनः, मनसा रागेण, श्रयन्ते हेतुत्वेनादरणीयत्वेनोपायत्वेन सेव्यत्वेन वाऽऽलम्बन्ते, तेषाम् भ्रान्तधियाम्, हिताय कल्याणाय, निगमा वेदा उपनिषदोऽपि, नोत्सहन्ते न क्षमन्ते, का कथा ग्रन्थान्तरमतान्तरतदनुसारिसज्जनानामित्यर्थः। मायापतिरेव मायादोषान् वारयितुम्प्रभुर्नान्यः कोऽपीति भावः ॥१७॥

हिन्दी व्याख्या—दुःखनिवृत्ति और दुःखहीन निरन्तर सुख की इच्छा सामान्य रूप से सबको होती है। उक्त इच्छा की पूर्ति के लिए जीव अज्ञानवश अनेक प्रकार के भ्रमपूर्ण उपाय करते रहते हैं। सुख दुःखों की घटनायें पूर्वकर्मवश होती हैं। संसारी जीव तात्कालिक दृष्ट कारणों को महत्त्व देते हैं। प्राचीन कर्म कब कौन-सी शुभ या अशुभ घटना करा देंगे यह कोई नहीं जानता, इससे उन घटनाओं पर कोई भी नियन्त्रण असम्भव होता है।

दुःखनिवृत्ति और सहज स्वाभाविक सुख का आविर्भाव संसारी जीवों के लिए केवल कल्पना का विषय है। शास्त्र ज्ञान के अभाव में उक्त कल्पना भी नहीं ठहरती। फलस्वरूप निकटतम दुःख की निवृत्ति और वैसे ही प्रातीतिक सुख की प्राप्ति के प्रयत्न होते रहते हैं। उन प्रयत्नों के बीच पूर्वकर्म अपने भीषण क्लेश या विस्मृतिकारक कुछ विषयसुख प्रस्तुत करते रहते हैं। इससे जीवन सदा अव्यवस्थित रहता है। अव्यवस्था को ही जीवन का लक्षण मानना पड़ता है।

अधिकांश लोग प्रत्यक्ष स्त्री-पुरुषों से सुख पाने की कल्पना में रहते हैं किन्तु कुछ लोग अधिक समझदार और धार्मिक माने जाते हैं। वे कुछ देवी-देवताओं के सहारे अपनी इच्छायें पूरी करते देखे जाते हैं।

उनकी बहुत में से एक दो इच्छायें पूरी हो जाती हैं। बाकी स्वयम् बदलती मिटती या टूटती रहती हैं। अज्ञानवश उनसे कर्म होते रहते हैं। उनके फलों के सिलसिले में अनेक जन्म भी मिलते रहते हैं। वे कर्मों का पूर्ण विराम नहीं चाहते या चाहते भी हैं तो उसके सही उपाय पर सही चिन्तन नहीं कर पाते। सही चिन्तन हो भी जाता है तो प्रमाद के धुन्ध में वह सहसा लुप्त हो जाता है। इससे संसार निर्बाध चलता रहता है।

आत्यन्तिक कल्याण के लिए जब तक परम मंगलमय भगवान् का भरोसा न हो जाये तब तक शास्त्र ज्ञान नहीं होता। भगवान् को ढूंढ़ने के लिए ही अनन्त शास्त्रकान्तार के बीहड़ों में विचरण होता है। दूसरा कोई प्रयोजने नहीं होता। उन पर कुछ भरोसा हुए बिना दुरूह शास्त्रों में चिरकाल श्रम की प्रवृत्ति क्यों होगी। इससे यह मानना पड़ता है कि प्रभु की कृपा पर सामान्य भरोसा होने से पहले शास्त्रबोध नहीं होता। बोध के बिना कल्याण की कल्पना नहीं होती। अतः आत्मकल्याण का यह एक ही उपाय है कि जैसे भी हो भगवान् को यथासम्भव समझा जाये। उनका विस्मरण न हो। उनकी कृपा का भरोसा और प्रतीक्षा भी जारी रहे। ऐसा होने से शास्त्र स्वयम् अपना रहस्य खोल देते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर हीं भगवान् कृष्ण ने गीता में अनेक बार अपने बोध और प्राप्ति के लिए भक्ति को कारण बतलाया है। जो लोग भगवान् को भूलकर रागवश संसारी चेतनों से सुख का भरोसा रखते हैं, वेदादि शास्त्र उनका हित नहीं कर पाते। शास्त्रों से बाहर हित का उपाय नहीं है ॥१७॥

तस्माद् विहाय जगदुत्थजनेभ्य आशा-
मीशस्य सर्वफलदस्य महाफलस्य।
दत्त्वा स्वकीयमखिलं स्वमपि प्रबुद्धो,
बद्धोऽपि मुक्त इव सज्जनमि प्रसक्तः ॥१८॥

संस्कृतविवरणम्—तस्माद् उक्तप्रकारेणान्येन दुःखनिवृत्त्यसम्भवात्, जगदुत्थजनेभ्यः स्थूलसूक्ष्मभूतमयशरीरधारिजीवेभ्यः, स्वप्रयोजनपूर्तौ आशाम् अपेक्षाम्, विहाय मनसोऽपनीय, सर्वफलदस्य सर्वेषाम् अभीप्सितानां कर्मफलानाम् प्रदाने नित्यावहितस्य, स्वयमेव च शुभतमकर्मणाम् महाफलस्य सर्वातिशायिसन्ततानन्तसुखहेतुत्वेन सर्वोत्कृष्टस्य सम्बन्धि, प्रबुद्धः अवधृतयथार्थतत्त्वः, स्वकीयम् स्वकीयताऽभिमानविषयम्, स्वमपि आत्मानं च, दत्वा तदीयं तस्यैव न तु तस्मै, प्रदाय आत्मात्मीयेषु ममताधियं सवासनं विहाय, नात्र स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकम्परस्वत्वोपपादनं दानं सम्भवति, स्वस्वत्वस्यावास्तविकत्वात्परस्वत्वस्य च शाश्वतत्वात्, तस्माद् अबाधिततत्त्वधिया ममतात्याग एव विधेयः तेन बद्धोऽपि प्रारब्धकर्मबन्धर्युक्तोऽपि, मुक्त इव प्रसन्नः मुक्तये विधेयस्य सवासनममतामतित्यागस्य विहितत्वात् अन्यस्य च कस्यापि विधेयस्यासत्त्वात् फलसंशयाभावेन मुक्त इव कृतार्थ इव प्रसन्नः निर्भरः सन् सञ्चरति सम्यक्तत्त्वाधिगमेन अनिष्टहेतुकर्मप्रवृत्त्यसम्भवेन सम्यग् एव विचरति, न तु बन्धे हेतुना केनापि सम्बध्यते ।१८।

हिन्दी व्याख्या—यह सुनिश्चित हो चुकने पर कि दुःखों का अन्त समस्त विश्व के स्वामी परमात्मा के प्रति अपना पूर्ण समर्पण रूपी समुचित भाव बनने से पहले सम्भव नहीं है, संसारी जीवों से सुख की आशा छूट जाती है और परमात्मा की ओर झुकाव बढ़ता है। भगवान् भी प्राचीन कर्मों का ही फल देते हैं। विशेष अवस्थाओं में वे कर्मबन्धनों से छुटकारा भी दिलाते हैं। अनन्त आनन्द स्वरूप वे स्वयं भी मिलते हैं। ऐसा समझ में आने पर उनकी ओर झुकाव अधिक बढ़ता है। तब भावुक जीव उक्त परमात्मा के प्रति अपना सर्वस्व सौंप देता है। अपनी सारी कल्पनायें भी छोड़ देता है, अपने आपको भी निष्ठापूर्वक उन्हें सौंप देता है। वह कोई नया समर्पण नहीं करता। वह तो ठीक तरह से जान चुका है कि वास्तव में अपना कुछ नहीं है और अपने आप भी केवल उनका बहुत पुराना किन्तु नित्य नया एक

खिलौना है। आज तक अपना जो कुछ हुआ, हो रहा है और होगा वह केवल उनकी लीला है। उनकी लीला से बाहर कुछ है ही नहीं। हमारे देहादि के प्रति अहम्भाव और उससे होने वाली ममता से जो क्लेश मिलता रहा वह भी उनका केवल मनोरंजन था। अभी भी जो कुछ उक्त दोष शेष है वह और उसका परिणाम सब कुछ उनकी लीला या मनोरंजन है, आगे जो कुछ शुभ होगा वह भी उनका मनोरंजन होगा, यदि कोई अखण्ड आनन्द प्राप्त होगा वह भी उनका मनोरंजन होगा। अनादि काल से अनन्त काल तक हम केवल उनकी लीला के एक उपकरण के सिवा और कुछ नहीं हैं।

उक्त ज्ञान के फलस्वरूप प्रस्तुत चेतन का समर्पण असाधारण होता है। वह मोक्ष का अव्यवहित उपाय होता है। उस समर्पण के बाद वह चेतन अपना दूसरा कोई उपायभूत कर्त्तव्य नहीं देखता। आगे की उसकी सारी चेष्टायें समर्पणमय ही होती हैं। उसका अगला अनन्त काल समर्पणप्रधान होता है। समर्पण के बाद समर्पण ही रहता है। इसका विशद बोध, प्रारब्ध क्षय होने पर होता है। वह बोध मुक्तावस्था कहा जाता है। इससे समर्पित व्यक्ति अत्यन्त निर्भर होता है। भीषण क्लेशों की ज्वाला में झुलसता हुआ भी वह अपने को किसी मुक्त पुरुष से कम नहीं मानता। वह जानता है कि क्लेश मुझ से बड़े नहीं हैं। उनका नाश होना है। निकट भविष्य में दिव्य प्रकाश में ही जीना है। इससे भीषण दुःखों के अन्तराल में भी उसमें सहज आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है॥१८॥

भेदेऽपि भाति वचनैरविचारितैर्ये-
ऽभेदं हरेरनुभवन्त्यनुयातदोषाः।
तेषां न शास्त्रवचनानि न साधवो वा,
श्रीशोऽपि नैव परमार्थहितेऽनुकूलाः॥१९॥

संस्कृतविवरणम्—अविदितस्वहिततत्त्वपुरुषार्थत्व-शास्त्रा-

नधीनावधारणाविषयस्वस्वरूपत्व-तत्त्वजिज्ञासावैमुख्य-स्वाहितहेतु भ्रान्तिवशत्व - अचिन्त्यपूर्वोत्तरजात्यायुर्भोगत्व - स्वावश्यचेतनान्तरत्व-स्वानधीनवाञ्छितपुरुषार्थत्वरूपधर्मसप्तकावच्छिन्ने वेदावधृतपरमात्म-भेदे भाति प्रतीयमानेऽपि, ये अनुयातदोषा भ्रान्तिपोषकाधर्मवेष्टित-चेतसः, अविचारितैः सम्यगमीमांसितैः, शास्त्रवचनैः तत्त्वमसीत्यादिभिः, हरेः परमात्मनः सकाशात्, स्वस्याभेदं तादात्म्यम्, अनुभवन्ति प्रामा-णिकतयाऽङ्गीकुर्वन्ति, तेषाम् भ्रान्तानाम्, शास्त्रवचनानि श्रुतिस्मृति-प्रभृतीनि, साधवः शास्त्रानुसारिजीवनाः, श्रीशः साक्षात् परमात्माऽपि, परमार्थहिते वास्तवनिः श्रेयससिद्धौ, नैवानुकूला भवन्ति। परमपुरुषा-र्थात्यन्तविरोधिनी जीवानाम् भगवत्तादात्म्यदृष्टिरिति भावः ॥१६॥

हिन्दी व्याख्या—पूर्वोक्त समर्पण का भाव जो कि मोक्ष का एक ही उपाय है जिसका कोई दूसरा विकल्प नहीं है, वह जीवात्मा परमात्मा के वास्तव भेद पर आधारित है। जीव अपने आपको स्वयं ही बहुत कुछ समझता है और परमात्मा को तर्क संगत वेदादि वाक्यों से समझता है। अपने सम्बन्ध में भी वह शास्त्रों से विशद ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार वह परमात्मा से अपना भेद समझ सकता है। अपने में वह निम्न सात बातें पाता है जो परमात्मा में नहीं हैं।

१—वह नहीं जानता कि मेरा वास्तव हित क्या हो सकता है, कल्याण का स्वरूप क्या है, उसका उपाय क्या है, दोनों का आधारभूत यथार्थ तत्त्व क्या है। इन बातों की ओर उसका ध्यान नहीं जाता और कभी कुछ सुन समझ लेने पर भी उन बातों पर आस्था नहीं रख पाता है।

२—वेदादि शास्त्रों के बिना अपने आपको स्पष्ट समझ नहीं पाता, अपने सम्बन्ध में उसकी तर्क शक्ति काम नहीं कर पाती, किसी ठोस निर्णय पर पहुँच नहीं पाता और वेदादि शास्त्रों पर भी आस्था नहीं बना पाता।

३—अपने हित के लिए भी तत्त्व चिन्तन की ओर रुचि नहीं रखता।

४—प्राय: वही भ्रान्तियाँ पाले रहता है जिससे लौकिक अलौकिक अनर्थ होते रहते हैं।

५—अपने अतीत अनागत जन्म आयु और भोग की कल्पना तक नहीं करता, जबकि जगत में सदा जन्म-मरण देखता रहता है।

६—वह दूसरों को, यहाँ तक कि अपनी पत्नी और बच्चों को भी अपने वश में नहीं रख पाता। उनके जीवन की गति-विधियाँ उसकी कल्पना से बहुत दूर हुआ करती हैं।

७—उसे जो कुछ उसके पसन्द की उपलब्धियाँ होती हैं या जिन उपलब्धियों की उसे अपेक्षा रहती है वह उसके अधीन नहीं होतीं, वह सब सदा पराधीन रहती हैं।

उक्त सात बातें जीव में हैं और परमात्मा में नहीं हैं। यह भेद सर्वविदित है। फिर भी कतिपय श्रुति-स्मृति वचनों का सही तात्पर्य न समझते हुए अपने को सर्वोपरि देखने की ललक से कुछ लोग अपने को परमात्मासे अभिन्न माना करते हैं। पूर्व पापों से ही भ्रान्तियाँ होती हैं जिनसे अनर्थ होते हैं या अनर्थ जारी रहते हैं। सांसारिक अनर्थ जारी रखने के लिए ही प्राचीन पाप समर्पण विरोधी उक्त अभेद-भ्रम बनाये रखते हैं।

उक्त अभेद भ्रम के रहते कोई शास्त्र वचन या सत्पुरुषोपदेश कल्याणकारी नहीं होता। उक्त अभेद भ्रम के न हटने पर यही समझना पड़ता है कि यह जीव अभी शिव से बहुत ही दूर है। क्योंकि न तो यह अपनी पराधीनता मान रहा है न कोई सही उपाय पकड़ पा रहा है। एकात्मवाद आत्मकल्याण का अत्यन्त विरोधी है। शास्त्रीय भगवत्तादात्म्य कल्याण के अति सन्निहित है ॥११॥

यावत्स्वरक्षणसमर्थमवेत्य योगी,
स्वं साहसेन भवजालनिकृन्तनेषु।
युंक्ते तदाऽवधि हरिर्भवरक्षणार्थी,
तत्कर्म न स्पृशति वित्तमिवान्यदीयम् ॥२०॥

संस्कृतविवरणम्—योगी मोक्षोपायलग्नः, यावत्कालं, स्वम् आत्मानम्, स्वरक्षणसमर्थम् आत्मोद्धाराय चेतनान्तरनिरपेक्षम्, अवेत्य विदित्वा, भवजालनिकृन्तनेषु संसारबन्धहेतुकर्मतद्भोगतज्जनित-विक्षेपादिनिवृत्तये योगाभ्यासतत्त्वनिष्ठाद्युपायेषु, साहसेन अन्तरायशंकां विना, युंक्ते नियोजयति, भगवन्तं नालम्बते, तदाऽवधि तावत्काल-पर्यन्तम्, भवरक्षणार्थी संसाररक्षाव्रती, हरिः स्ववशसकलार्थो भगवान्, अन्यदीयं वित्तम् इव असमर्पितम् अन्यदीयं धनं सत्पुरुषो नादत्ते तथैव, तत्कर्म न स्पृशति तद्बन्धहेतुकर्मोपसंहारं नेच्छति ॥२०॥

हिन्दी व्याख्या—लोक में देखा जाता है कि जो व्यक्ति अपना कोई कार्य स्वयं करने में लगे रहते हैं उनकी सहायता के लिए कोई भी समर्थ व्यक्ति स्वयं नहीं जाता। सहायता उसे ही प्राप्त होती है जो सक्षम व्यक्ति के समक्ष अपनी अपेक्षा प्रकट करता है। यही नियम मोक्षमार्ग में भी लागू होता है। जो मुमुक्षुजन स्वयं योग ध्यान ज्ञान आदि उपायों से आत्मोद्धार का भरोसा रखते हैं और उपायों में लगे रहते हैं उनकी वह सामान्य सहायता भगवान् करते ही रहते हैं, जो संसारी जीवों की सब तरह के कर्मों में करते हैं। स्वावलम्बी होने से वे अधिक सहायता नहीं पा सकते। उन स्वावलम्बियों के प्राचीन अनन्त कर्म उनका पीछा नहीं छोड़ते। फलस्वरूप साधनावस्थाओं में अगणित जन्मों तक शुभाशुभ विघ्नों के रूप में अपने फल देते रहते हैं। विघ्नों में मोक्ष प्रयत्न छूट भी जाता है, वे संसार में ही रह जाते हैं। भगवान् उनकी विफलता देखकर भी उनकी सहायता नहीं कर पाते। क्योंकि जीवों की स्वतन्त्रता का भाव अनादि है। इसीसे उनका संसार चल रहा है। उसे छीनना भगवान् के स्वभाव और नियम के विपरीत है। वे छीनते नहीं हैं। दूसरे का धन सामान्य सत्पुरुष भी लेना नहीं चाहते तब भगवान् किसी जीव के प्रिय संसार का हरण क्यों कर सकते हैं ॥२०॥

रागान्धधीरसकृदाप्तुमनर्थजालं,
यच्चेष्टते तदपराध्यति दण्डमेति ।
रागो मनस्युदयते सुचिरात्तपापै-
स्तत्कालबोधशतकेन न वारणार्हः ॥२१॥

संस्कृतविवरणम्—कर्मानुबद्धो रज्यते तेनापराध्यति तेन संसार इत्याह रागान्धेत्यादि । रागान्धधीः प्रस्तुतानर्थोपेक्षी पुरुषः, अनर्थजालम् स्वरूपविरुद्धार्थसमूहम्, आप्तुम् लब्धुम्, यत् चेष्टते, प्रयतते, तद् अपराध्यति स्वरूपविरुद्धविषयकत्वात् सा चेष्टा वस्तुतोऽपराध एव भवति, अतएव दण्डम् कष्टमयम् एव पुरुषार्थम्, एति लभते, 'दुःसंङ्कल्पो दुष्प्रयत्नो दुष्फलो दुःखसंम्प्लुतः । सद्बुद्धिः शुद्धसङ्कल्पः सकलं शुभमश्नुते ।' रागस्तु विषयलिप्सारूपः, सुचिरात्तपापैः पूर्वानन्तजन्मसञ्चितैः प्रारब्धरूपैः पापैः स्वरूपतिरोधायकैः कर्मभिरेव मनसि अन्तकरणे, उदयते आविर्भवति, असौ रागः तत्कालबोधशतकेन वारणार्हो न भवति । तदानीं तद्वाञ्छितदुरर्थविरुद्धं यथार्थज्ञानं हितैषिणा केनापि भूयोऽपि यदि प्रस्तूयते तदाऽपि न स शृणोति न च रागो निवर्तते ॥ २१ ॥

हिन्दी व्याख्या—हरएक प्राणी को अपने विषय में राग रहता है । वह राग विषयसम्बन्धी दोषों को अनदेखा करता है । फलस्वरूप वह अभीष्ट विषय को पाने के लिए भले-बुरे प्रयत्न करता रहता है । कोई भी विषय जीवात्मा का स्वरूपानुबन्धी नहीं होता । उससे उसका कुछ न कुछ अहित ही होता है, संसार बढ़ता है । इससे वह उसे पाने के लिए जो भी प्रयत्न करता है वह एक प्रकार का अपराध करता है और प्रयत्न कर जो भी फल पाता है वह वास्तव में उसके लिए दण्डस्वरूप होता है । उससे उसे दुःख मिलते हैं । नियम है कि संकल्प अशुद्ध होने से प्रयत्न गलत होते हैं । उससे मिलने वाला फल भी दोषयुक्त होता है एवं विचार के शुद्ध होने से सङ्कल्प प्रयत्न और फल सभी शुद्ध होते हैं । उससे सुख ही मिलता है । चित्त में विषयों के प्रति

राग पूर्व जन्मों के किये स्वरूपविरुद्ध कर्मों के फल स्वरूप होता है। वह अपने समय में हज़ार समझाने पर भी शान्त नहीं होता है ॥२१॥

यावन्न कर्म सकलं दययोच्छिनत्ति,
मायापतिः श्रितसमर्पणभावतुष्टः।
तावत्कथं सुमतिमेति कुतः सुकर्म,
मुच्येत केन भवभृद् बत मोहजालात् ॥२२॥

संस्कृतविवरणम्—पूर्वोक्तमेव भंग्यन्तरेणाह यावदित्यादि। मायापतिः परमात्मा, यावत् सकलं कर्म प्रारब्धं सञ्चितञ्च, श्रितसमर्पणभावतुष्टः सन् आत्मोद्धाराय स्वाक्षमताधिया कृतभगवद्वरणस्य समर्पणभावेन स्वस्य स्वीयस्य च सकलस्य नित्यभगवदेकवश्यताभावनया तुष्टः निवृत्तनिग्रहरुचिः सन् न उच्छिनत्ति स्वसङ्कल्पेन न निवारयति, तावत् कर्मवशः कथं सुमतिम् यथार्थवोधम्, एति लभते, तया विना कुतः केनोपायेन, सुकर्म आत्मोद्धारहेतुकर्मसिद्धिः, बत (खेदे) भवभृत् संसारबद्धो जन्तुः, मोहजालात् विषयचयाविवेकव्यूहतः, केनोपायेन, मुच्येत मुक्तः स्यात्, कर्मबद्धस्याज्ञानमनिवार्यं तेन मोक्षहेतुज्ञानोदयप्रतिबन्धो दुर्निवार इति भावः ॥२२॥

हिन्दी व्याख्या—कोई भी व्यक्ति अपने को चाहे जितना भी शास्त्रज्ञ और विवेकशील समझे किन्तु जब तक उसके कर्म उसके साथ हैं तब तक उसकी विशद विशदतर या विशदतम प्रज्ञा उन कर्मों के प्रभाव में ही रहती है। भले तत्त्वनिर्णय वह यथार्थरूप से कर ले किन्तु निर्णयाधीन प्रवृत्ति में भेद हो सकता है। इसी से प्रायः तत्त्वज्ञान में भी मतभेद देखा जाता है। प्राचीन कर्म किसी की भी बुद्धि ऐसी नहीं बनने देते जिससे उनके फलों में बाधा हो जाये। इस प्रकार जैसे अज्ञानियों के जीवन में भोगों की प्रधानता होती है वैसे ज्ञानियों के भी जीवन में पूर्व कर्म सम्बन्धी भोग उनके अखण्डस्पष्ट तत्त्वज्ञान की अपेक्षा बलवान् होते हैं, वे दबते नहीं। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ता है कि

कर्मवश्य जीव यथार्थज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अनुष्ठानपर्यवसायी तत्त्वज्ञान से विभूषित महापुरुष समाज में ढूंढ़े नहीं मिलते।

वास्तव में मुमुक्षु चेतन जब शास्त्रपरिशीलन और आत्मालोचन से यह मान लेता है कि संसारसागर से पार होना अपने वश का नहीं है, प्रभु ही दया करके उद्धार कर सकते हैं तब वह सत्सम्प्रदायपरम्परानुसार मोक्षोपाय के रूप में भगवान्का वरण करता और विधिवत् आत्म-समर्पण करता है। उसकी उस समर्पणमय मानसिक अवस्था से भगवान्को इसलिए विशेष सन्तुष्टि होती है कि अब यह चेतन आत्मोद्धार में पहले की भाँति अहङ्कार ग्रस्त न होने से विरोध नहीं करेगा। ऐसा निश्चय होने पर भगवान् अपने दयापूर्ण सङ्कल्प से उसके अनुगत सारे कर्मों को विफल कर देते हैं। तब उसका ज्ञान पहले की भाँति कर्मों से प्रभावित नहीं रहता। वह यथार्थस्पर्शी होता है। तब वह जो भी कर्म करता है उससे प्रभु की सन्तुष्टि ही होती है। वह अपने कर्मों के पीछे अन्य कोई उद्देश्य नहीं रखता। मोहवश ही मनुष्य विषयों की इच्छा रखता है। अबाधित यथार्थ ज्ञान से उसका सारा मोह जाता रहता है तब विषयलालसा स्वयं सदा के लिए शान्त हो जाती है। उसके सारे कर्म श्वासप्रश्वास की भाँति सहज स्वाभाविक होते हैं। वह व्यक्ति भावनाओं से भगवान् के अत्यन्त समीप होने से उनका विशेष प्रिय होता है। इसीसे उसके सारे कर्म भी भगवान् के प्रिय होते हैं। यह प्रियतातिशय ही मोक्ष का मूल है ॥२२॥

सङ्कल्पितं जगदिदं हरिणा विसृष्टम्,
बद्ध्वा स भोजयति जीवपशून् कृतानि।
सर्वं तदीयमथ योऽत्र मदीयताधी-
र्बध्नाति तं सुदृढपाशशतेन रक्षन् ॥२३॥

संस्कृतविवरणम्—कर्ममये जगति भगवतो दैवव्यापारमाह-सङ्कल्पितमित्यादि। हरिणा स्ववशसकलकार्यकारणजातेन भगवता, इदं दृश्यमानं जगत् विश्वं सङ्कल्पितं सृष्टेः पूर्वमपि सङ्कल्पविषयतया

आप्रलयं यथावस्थं विद्यमानं, विसृष्टम् विविधभेदविशिष्टम् उत्पादितम्, स हरिर्भगवान्, जीवपशून् पूर्वापरजन्मानभिज्ञतया प्रत्यक्षमात्रदर्शित्वेन पशुतुल्यान् जीवान्, बद्ध्वा कर्मानुगुणविषयवासनारज्ज्वा नद्ध्वा, कृतानि तत्तत्पूर्वार्जितफलानि, भोजयति यथा सङ्कल्पम् अनुभावयति, सर्वं कार्यकारणात्मकं जडचेतनात्मकमखिलं जगत्, तदीयम् भगवदेकस्वामिकं तदेकनियाम्यं तदेकधार्यन्तदेकभोग्यञ्च, अथ एवमपि, अत्र जगति, यो मदीयताधीः ममत्वबुद्धिशाली भवति जीवः, तं रक्षन् अतिवेलविनाशतोऽपवारयन्, सुदृढपाशशतेन कर्मवासनाभोगवासनाव्यूहेन, बध्नाति नियमयति। ममतया मोहो वर्धते तेन दुष्कृत्यधाराप्रवाहफलक्लेशातिशयो माभूदिति सर्वांस्तत्तत्कर्मभोगवासनानियन्त्रितान् करोति ॥२३॥

हिन्दी व्याख्या—यह दृश्यमान जगत् सृष्टि के पहले भगवान् के सङ्कल्प में था। अभी तक जितने परिणाम हो चुके, हो रहे हैं, होने वाले हैं वह सब उनके सङ्कल्प में प्रकाशित हैं। जगत् की सृष्टि करके भगवान् जीवों के पूर्वकर्मों के फल उन्हें ऐसे उपलब्ध कराते हैं जैसे हम लोग पशुओं को बाँधकर उनको चारा देते हैं। नहीं बाँधने से वे दिया हुआ चारा नहीं खा सकते। कर्मवासना और भोगवासना ही उनके बन्धन की डोरी है। देखा जाता है कि प्रत्येक मानव कुछ करने पाने और अनुभव करने की इच्छा और प्रयत्न करता है। वासनाभेद से प्रत्येक की इच्छा भिन्न होती है। इच्छाजननी वासना ही जीवों का बन्धन है।

इस विश्व में ऐसा कुछ नहीं है जो भगवान् का न हो, उनकी इच्छा से परिवर्तनीय न हो, उनके आनन्दमय अनुभव का विषय न हो, उनके एकाधिकार से बाहर हो। सारे जीव भी भगवान् के उक्त स्वत्व के अधीन हैं। वे तनिक भी स्वतन्त्र नहीं हैं, फिर भी अपने को स्वतन्त्र कर्ता भोक्ता मानते हैं। उनकी इस मोहमयी मान्यता को सम्मान देते हुए जगद्व्यापारपरायण नारायण उनके जानते उनके किये प्रत्येक कर्म

का फल समुचित समय और मात्रा में उपलब्ध कराते रहते हैं। जैसे पशुओं को बाँधकर ही उनकी सेवा की जाती है अन्यथा उनकी सेवा सम्भव नहीं है वैसे ही भगवान् भी सभी जीवों को उनके किये के फल उपलब्ध कराने के लिए फलों के प्रति एक उत्कण्ठा जगा देते हैं। वह उत्कण्ठा सभी शुभाशुभ फलों का माध्यम बन जाती है। जैसे किसी को गजटेड आफीसर बनने की इच्छा थी। वह बन गया और आगे अपने अधिकार के अन्तर्गत सभी शुभाशुभ परिणाम भोग रहा है। प्रत्येक भोग में जीव के प्राचीन कर्मों का नियन्त्रण रहता है। ताजा कर्म केवल माध्यम होता है। जैसे उसने कोई नैतिक जिम्मेदारी कड़ाई से निभाई। उससे उसे दूसरे स्थान पर ऊँचा पद मिला। वहाँ उसकी हत्या हो गयी। कोई नहीं जानता था कि ऐसा होना है। किन्तु ऊपर वाले को सब प्रत्यक्ष था। शादी चाही जाती है। बच्चे अच्छे लगते हैं। नाती-पोते प्यारे होते हैं। कोई दादा उनके शील और चरित्र से ऊबकर मौत को पुकारता है। मौत सुनती नहीं। बर्बाद पोता जब राजनेता बन जाता है तब बाबा की आयु पूरी होती है। सबके जीवन का ऐसा सारा घटनाक्रम पूर्वनिर्धारित रहता है। जीव पशु नया-नया दृश्य देखते और हँसते-रोते रहते हैं। वास्तव में वे कहीं भी स्वतन्त्र नहीं हैं। फिर भी अपनी पूर्ण पराधीनता की बात प्रस्तुत होने पर बुरा मानते हैं। वे अभी संसारवात्याचक्र के बीचोबीच पड़े हैं ॥२३॥

योऽहं यदस्ति ममताऽस्पदमत्र किंचिद्,
यच्च स्पृहाविषयतामयते जगत्याम् ।
भूतञ्च भाव्यमपि यद्विदितं न वेद्यं,
सर्वं तदंशमथ नाहमपि स्वकीयः ॥२४॥

संस्कृतविवरणम्—आत्यन्तिकनिःश्रेयसहेतुयथार्थज्ञानमाह-योऽहमित्यादि । योऽहम् आत्मतत्त्वनिरूपणानन्तरं यत्प्रयाति अहमिति-

धीविषयो यः सः, अथात्र जगति यन्ममताऽऽस्पदम् अस्ति ममेति गृह्यते तत्, यत् जगत्यां स्पृहाविषयताम् अयते ममेदम्भूयाद् इति चिन्त्यते तत्, यद् भूतम् अतीतम्, यत् च भाव्यम् भविष्यद्, यच्च विदितम् प्रमाण-विषयः, यच्च न वेद्यम् सूक्ष्मव्यवहितदूरतया इत्थमित्यवधारणानर्हम्, तत्सर्वम् ऐशम् ईश्वरस्वामिकं तन्नियाम्यन्तद्धार्यन्तद्भोग्यञ्च, अथ अहमपि न स्वकीयः न स्वस्वामिको न स्वनियाम्यो न स्वेन धार्यो नापि स्वभोग्यः ।। २४ ।।

हिन्दी व्याख्या—वह ज्ञान बतला रहे हैं जिसके बने रहने से संसार-बन्धन छूटता है। मैं जो भी हूँ और जिन तत्त्वों को मैं अपना मानता हूँ और जिन तत्त्वों, अवस्थाओं घटनाओं की इच्छा होती है एवं जो बातें अति सूक्ष्म व्यवहित या दूरस्थ होने से स्पष्ट समझ में नहीं आतीं वह सब ईश्वर की वस्तुएँ हैं, उनकी ही ममता का विषय है, वे ही उनको धारण करते हैं एवं वे ही उनका उपभोग करते हैं। ऐसी स्थिति में जो अपने आप पर अपने नियन्त्रण अपनी ममता अपनी अधीनता और अपनी भोग्यता की कल्पना होती है वह सब भ्रान्ति है अर्थात् अपने आप पर भी वैसे ही अपना वश नहीं है जैसे अनन्त आकाश आदि तत्त्वों पर नहीं है ।। २४ ।।

सैषा मतिर्ज्वलति शश्वदधीशभक्त्या
विध्वस्तपातकचयस्य न यस्य कस्य ।
सेयम्प्रपत्तिरयते हृदि सर्वशास्त्र-
सिद्धान्तशीर्षनियता नियतात्मभासाम् ।।२५।।

संस्कृतविवरणम्—उक्तज्ञानस्य प्रपत्तिपर्यायशरणागतिरूपतां निष्कलुषचित्ताकाशप्रकाशं चाह सैषेत्यादि। सा एषा पूर्वोक्ता, मतिः प्रज्ञा, शश्वत् निरन्तरया, अधीशभक्त्या सर्वेश्वरे परमपुरुषे श्रीमति नारायणे निरतिशयानुरागेण, विध्वस्तपातकचयस्य समूलविनष्टाज्ञान-हेतुदुष्कृतसमूहस्य, पुरुषस्य ज्वलति दीप्यते नियतम् प्रकाशते, न यस्य

कस्य न श्रवणमात्रेण कस्यापि चेतसि अवतिष्ठते। सा इयम् पूर्वोक्ता मतिरेवशास्त्रेषु प्रपत्तिरिति गीयते। सर्वशास्त्रसिद्धान्तशीर्षनियता सकलदर्शनविद्यासिद्धान्तनिर्धारणानन्तरभाविनी इयं नियतात्मभासाम् अविच्छिन्नासन्दिग्धस्वस्वरूपानुभवशीलानां हृदि अन्तःकरणे अयते अवतिष्ठते। तदैव निःश्रेयसाधिगमो नान्यथेति भावः ॥२५॥

हिन्दी व्याख्या—निरन्तर भगवद्भक्ति से जिनके वे सारे पाप कट चुके हैं, जिनसे अज्ञान ठहरता है उनके ही हृदय में पूर्वोक्त कल्याणमयी बुद्धि प्रकाशित होती है। यही प्रपत्ति कही जाती है, यह सभी अध्यात्म-सम्बन्धी शास्त्रों के सिद्धान्तों को समझने के बाद उनके हृदय में ठहरती है जिन्हें अपने स्वरूप का अनुभव असन्दिग्ध रूप से होता रहता है।२५।

भक्तेः फलम्प्रपदनं नितराम्प्रपन्नो,
भक्तोत्तमो भवति धूतसमस्तबन्धः।
मोहांशलम्बिततनोः पतने स लोकं,
सन्नीयते भगवता समतां गतानाम् ॥२६॥

संस्कृतविवरणम्—कर्म ज्ञानम् भक्तिः प्रपत्तिराचार्याभिमान इति पञ्चोपायान् विदन्ति मुक्तौ विद्वांसः। सर्वेषूपायतापर्याप्त्या सर्वे स्वतन्त्रोपाया इत्यपि बहवः। किन्तु स्वरूपपर्यालोचनया प्रत्येकनिष्पत्तौ शेषचतुष्कसहकारापेक्षाऽवधार्यते। एतदनुसारिण्येव मन्ये हस्ते पञ्चाङ्गुल्युत्पत्तिः। इदं विशदमन्यतोऽवधेयम्। प्रकृता प्रपत्तिर्भक्तेः फलमित्याह-प्रपदनम् मुक्तौ भगवदेकोपायताधीः, भक्तेः स्नेहपूर्वानुध्यानरूपायाश्चित्तवृत्तेः, फलम् परिणामः, भवति। स्नेहं बिना विश्रम्भाभावात् अनुध्यानं विना विषयवैमुख्यफलमुमुक्षाप्रयुक्तमोक्षोपायताबुद्ध्यनवस्थानात् च प्रपत्तेः पूर्वम् उक्ताया भक्तेर्निष्पत्तिरावश्यकी। तेन प्रपन्नः स्वविमुक्तये भगवन्तमेवोपायम्मन्वानो निव्यञ्च तदर्थम्प्रार्थयमानो धूतसमस्तबन्धः प्राकृतवस्तुषु सर्वत्र ममतारागरहितः सन् भक्तोत्तमः काष्ठांप्राप्तभक्तिभावो भवति अवधार्यते। तथोक्तः स मोहांशलम्बिततनोः प्रारब्धाधीनसूक्ष्ममोहाश्रितस्य शरीरस्य पतने निष्प्राण-

तायाम्, भगवता परमात्मना, समताम् अपहतपाप्मत्वादिगुणोदयम्, गतानाम् प्राप्तानाम् उचितं, लोकम्ब्रह्माण्डातीतस्थानविशेषं, सन्नीयते शास्त्रावगतबहुमानपुरस्सरं नीयते उह्यते, अग्निज्योतिर्दिनशुक्लपक्षोत्तरायणदेवैर्भगवद्गीतोदितैर्नित्यैर्भगवद्भक्तैश्चेति शेषः ॥२६॥

हिन्दी व्याख्या—मोक्ष के पाँच उपाय माने गये हैं—कर्म, ज्ञान, भक्ति, शरणागति और आचार्याभिमान। उक्त पाँचों उपाय स्वतन्त्र माने गये हैं। कुछ आचार्यों ने अङ्गाङ्गिभाव भी माने हैं। वास्तव में किसी भी मुमुक्षु के जीवन में पाँचों उपाय लक्षित होते हैं। अन्य चार के बिना कोई एक उपाय बन नहीं पाता। तत्त्वनिरूपण के प्रसङ्ग में किसी एक की प्रधानता मानी जाती है। किसी भी एक उपाय का अवलम्बन करने वाला मुमुक्षु अन्य उपायों का त्याग नहीं करता। यहाँ शरणागति का प्रसङ्ग चल रहा है। आचार्याभिमान शरणागति का पूरक है। कर्म और ज्ञान भक्ति के सहायक हैं। यहाँ कह रहे हैं कि उक्त शरणागति भक्ति के बिना बन नहीं पाती। भक्ति का परिणाम है प्रपत्ति या शरणागति। इससे जो मुमुक्षुजन प्रपन्न या शरणागत माने जाते हैं वे एक श्रेष्ठ भक्त होते हैं। साधन भक्ति के द्वारा सारी कर्ममयी और भोगमयी वासनाओं का क्षय होने पर साध्य भक्ति बनती है। उसीका रूपान्तर या अवस्थान्तर शरणागति कहा जाता है। उसका सारा अज्ञान मिट चुका होता है। प्रारब्ध भोग के निर्वाह के लिए अवशिष्ट नाममात्र मोह के सहारे शरीर टिका रहता है। शरीर छूटते ही वह सम्पूर्ण सम्मान के साथ उस परमपद पर भगवद्गीता में वर्णित अर्चिरादि मार्ग के देवताओं और भगवान् के नित्य भक्तों के द्वारा पहुँचाया जाता है जहाँ भगवान् के पूर्ण समता प्राप्त पुरुष जाते हैं। इससे भक्ति और प्रपत्ति में भेद का ध्यान रखते हुए भी एक दूसरे की पूरकता नहीं भूलनी चाहिए। प्रपन्न मुमुक्षुजन अन्य उपायों का भी ससम्मान अनुष्ठान करते हैं। प्रस्तुत पाँच उपायों के विशद बोध के लिए अध्यात्मविद्यारहस्यों का अन्वेषण करते रहना चाहिए ॥२६॥

रागं न रोषमपि धारयते क्षणार्धं,
क्षुद्रं हि तस्य जगदेतदबोधसिद्धम् ।
मित्रं समस्तजगतो न च मित्रतार्थी,
शत्रूंश्च विस्मरति मोहकृतान्प्रपन्नः ॥२७॥

संस्कृतविवरणम्—प्रपन्नस्य स्वभावभूतानि लक्षणान्याह-रागमित्यादि । प्रपन्नः शरणागतः, मुमुक्षुः, क्षणार्धमपि न रागम् आसक्तिम्, न च रोषम् अपि कोपञ्च, धारयते प्रमादादुत्पन्नमपि द्वितीयक्षणे ज्ञानेन तन्नश्यति तेन तन्न लक्ष्यते, तस्य हि मुमुक्षोः, अबोधसिद्धम् अज्ञानमयप्रतीतिविषयः, एतज्जगत् कृत्स्नं विश्वम्, नितरां क्षुद्रम् अनास्थेयम् भवति, प्राणिमात्रम् भगवद्विभूतितया भगवद्विग्रहतया च पश्यन् स समस्तजगताम् मित्रं हितैकसाधनप्रवणो भवति । मित्रतार्थी च न भवति कस्यापि मैत्रीं स्वस्मै नापेक्षते, भगवदेकालम्बित्वाद् भगवतोऽपि क्षुद्रपुरुषार्थानपेक्षित्वात्, मोहकृतान् देहतत्सम्बन्धिषु स्थितेन मोहेन अहङ्कारममकाररूपेणाविवेकेन जनितान्, शत्रून् मिथ्यारागद्वेषमयान् दम्भमानमत्सरादीन् संसारवर्धकान् आपादितचिरानर्थमयसंसारान् पुनरपि तदर्थमुद्यतान् रिपून् न विस्मरति तेभ्यः सततावहितचेता एव भवति ॥ २७ ॥

हिन्दी व्याख्या—शरणागत के लक्षण बतलाते हैं। शरणागत मुमुक्षु का अज्ञान दूर हो चुका रहता है। इससे वह आधा क्षण भी किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुराग या द्वेष नहीं करता। वह यह नहीं भूलता कि यह सारा संसार हमें जैसा दीख रहा है, वैसा नहीं है। केवल हमारे अज्ञान से ऐसा समझमें आता है, और हमको जो चाहिए, हम जिस पुरुषार्थ के लिये प्रयत्नशील हैं उसकी तुलना में सांसारिक वस्तुएं नहीं के बराबर या अति क्षुद्र हैं, इससे उसे रागद्वेष नहीं होते।

वह भगवान् का सर्वत्र दर्शन और सेवा करता है। सेवा ही उसे सूझती है। इससे वह स्वभाव से ही सबका हितैषी होता है। फिर भी वह दूसरों से अपने हित की अपेक्षा नहीं रखता। उसका अपने

हित का एक ही उद्देश्य होता है। उसकी पूर्ति भगवान् ही समय पर करते हैं। अन्य किसी उद्देश्य के न होने से उसे किसी से कोई अपेक्षा नहीं होती। वह अपने मोह से उत्पन्न उन रागद्वेषमय शत्रुओं को नहीं भूलता जिन्होंने उसे कल तक संसार में बाँधे रखा था और अभी भी बाँधने की भूमिका में रह रहे हैं। वह उनसे सदा बचता रहता है।२७।

मोहेन देहमुपयाति समस्तदेही
ज्ञानेऽपि नायमपयाति समूलनाशम् ।
ज्ञानं यदि ज्वलति तीव्रमथास्य हेतौ
दग्धे व्यपैति नियतं त्वरया सदेहः ॥२८॥

संस्कृतविवरणम्—मोहस्य दुर्वारतामाह मोहेनेत्यादि। समस्तदेही देवादितृणान्ताः प्राणिनः मोहेन देहादावहङ्कारममकाररूपेण, देहं शरीरम्, उपयाति लभते, अयम् मोहो, ज्ञाने शास्त्राभ्यासे कृतेऽपि, समूलनाशम् मूलभूतस्य कर्मसंस्कार भोगसंस्काररूपस्य नाशपर्यन्तम्, अयम् मोहः, न अपयाति चेतनं न त्यजति, अथ यदि, तपसा ज्ञानं तीव्रं वासनादाहपर्यन्तवेगं, ज्वलति देदीप्यते, सांसारिकविषयस्मृतिमपि निरुन्धे तदाऽस्य मोहस्य, हेतौ उक्त कर्मभोगसंस्कारद्वये, दग्धे ज्ञानाग्निना शून्यतां गते, अयम् मोहः, सदेहो नियतम् व्यपैति विनश्यति। तपोदीप्तं ज्ञानं सत्वरं संसारं सदेहमुन्मूलयतीत्यर्थः ।।२८।।

हिन्दी व्याख्या—सारे संसारी चेतन मोह से ही सूक्ष्म और स्थूल शरीर प्राप्त करते हैं। सूक्ष्म भूतों से बनने वाले देवादि शरीर सूक्ष्म होते हैं। वे हमारे जैसे स्थूलदर्शी प्राणियों को सहसा उपलब्ध नहीं होते। स्थूल भूतों से बनने वाले मानव आदि शरीर स्थूल होते हैं। वे अन्धों को भी स्पर्श से उपलब्ध हो जाते हैं। इस स्थूल शरीर के अन्दर एक सूक्ष्म शरीर रहता है। चेतन जब इसका त्याग करके कहीं भी जाता है तो सूक्ष्म शरीर उसके साथ रहता है। वह किसी भी योनि में नये सूक्ष्म या स्थूल शरीर तैयार करने में सहायक होता है।

प्राचीन कर्मवश जिम किसी भी योनि में स्पृहावश मोह उत्पन्न होता है उसी के अनुरूप योनि में उसका प्रवेश होता है। अयोनिज शरीर मिलने की स्थिति में उसके अनुरूप वातावरण में वह पहुँच जाता है। जैसे कोशकार कीट अपने रहने के लिये स्वयं कोश का निर्माण कर लेता है वैसे ही सभी चेतन कर्मों और भोगों के संस्कारों से पोषित मोह के द्वारा उस गर्भाशय में जहाँ शरीर बनता है, अपने अनुरूप शरीर अनजाने ही बना लेते हैं। आत्मा में प्रवृत्ति हेतु और निवृत्ति हेतु दो प्रकार के यत्न होते हैं जो प्रवृत्ति-निवृत्ति के द्वारा जाने जाते हैं। ऐसा ही एक जीवनहेतु यत्न भी होता हैं जो शरीर के सारे यन्त्रों और कोशिकाओं को सक्रिय रखता है। रोगोत्पत्ति और रोग निवारण में उसकी बड़ी भूमिका होती है। उस यत्न का ज्ञान शरीर की सारी चेष्टाओं से होता है। वही यत्न गर्भ में शरीर रचना में प्रथम क्षण से ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जैसे किसी गाड़ी का चालक किसी भी कारण से अन्यमनस्क होने से गाड़ी ठीक से नहीं चला पाती है जिसका परिणाम उसके और गाड़ी के अहित में होता है, वैसे ही गर्भस्थ चेतन प्राचीन अशुभ कर्मों के फलस्वरूप अन्यमनस्कता जैसी स्थिति में रहता है जिसका परिणाम यत्न के अधूरापन से शरीर के विभिन्न अङ्गों की अपूर्णता या अपुष्टता होती है। आयु का निर्धारण गर्भ में ही होता है। शरीर का टिकाऊ न होना ही उसका अल्प आयु होता है। गर्भ के प्रत्येक यन्त्र में सतत यत्न से दीर्घायु नीरोग शरीर बनता है। एक योग्य वैद्य किसी की भी नाड़ी देखकर उसकी अनुमानित आयु सीमा बतला सकता है।

अस्तु, यहाँ केवल यह कहा जारहा है कि जैसे यह शरीर मोह के सहारे बनता है वैसे मोह से ही यह टिका भी रहता है। अध्यात्म विद्या के परिशीलन से मोह विरोधी ज्ञान होता है, किन्तु पहले से बलवान् मोह के रहते वह प्रभावी नहीं होता। कुछ निष्ठावान् तपस्वी महापुरुषों का शास्त्र ज्ञान से मोहनाश लक्षित होता है किन्तु मूलभूत कर्म संस्कार और भोग संस्कार से वह मोह दुबारा जग जाता है और

चिरयत्नपूर्वक अर्जित ज्ञान विफल हो जाता। किन्तु यदि शास्त्रज्ञान यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्यहार पूर्वक धारणानामक छठे योगाङ्ग का सहारा पाता हैं तो वह ऐसा जलता है कि मोह अपने आधारभूत सारे संस्कारों के साथ एकबारगी भस्म हो जाता है और कारण के नष्ट होने से कार्यभूत शरीर भी तत्क्षण छूट जाता है। वह शरीर त्याग अन्तिम होता है। बीज सहित मोह के जल जाने से आगे शरीर नहीं बनता। उस दीप्त ज्ञान से—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

इस शास्त्र वचन के अनुसार सारे सञ्चित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। भोगों की माध्यम बनी वासनाओं के न रह जाने से प्राचीन कर्म कभी भी अपने फल नहीं दे पाते। फलस्वरूप आगे जन्म नहीं होता। तब आत्मा अपने सहज आनन्दमय स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही मोक्ष कहलाता है। इससे साधक मुमुक्षुजन ज्ञानार्जन में वैधता तप यम नियमादि और संयम का पुट देते हैं और यदि किसी दुष्कृत ने कोई विघ्न प्रस्तुत नहीं किया तो शीघ्र निःश्रेयस के आनन्द-मय अनवरत अनुभव में लीन हो जाते हैं॥२८॥

मोहाश्रिते वपुषि कस्य किलात्मबोधो,
वेदान्तवाक्यनिचयोऽस्तु वचोविलासः।
ध्यानेन वा न तपसाऽपि न कर्मयोगान्-
मोहो विनश्यति वपुर्धृतवान्फलार्थम्॥२९॥

संस्कृतविवरणम्—पुनरेव मोहस्य महिमानमाह मोहाश्रित इत्यादि। मोहाश्रिते मोहावलम्बिते, वपुषि शरीरे, विद्यमाने कस्य साधकस्यापि आत्मबोधः शास्त्रोक्तदेहातिरिक्तस्वयम्प्रकाशात्मस्वरूप-गता सन्तता निर्भ्रान्ता दृष्टिः भवति किल नेत्यकोऽप्युपलभ्यते। तर्हि

वेदान्ताभ्यासः किमर्थं इत्यत्राह—वेदान्तवाक्यनिचयः प्रमाणमूर्धन्य

श्रुतिशीर्षवचनसमूहः, मोहे जाग्रति वचोविलासः अस्तु, प्रमाणतम वचन-विन्यासकौशलम् अस्तु, तन्नाज्ञाननिवर्तनक्षममिति यावत्। यतो हि तत्त्वावगमदार्ढ्यफलेन ध्यानेन कतिचित्कालिकेन प्रत्ययैकतानतारूपेण, इन्द्रियनिग्रहादिरूपेण क्लेशमयेन तपसा, शास्त्रावगतान्निष्कामकर्म-योगादपि चिरानुष्ठितात्, अयम् फलार्थम् प्रारब्धकर्मफलभोगहेतुभूतं, वपुः शरीरं, धृतवान् धारयमाणः, मोहः शास्त्रतत्फलशतेनापि न विनश्यति। प्रारब्धस्य बलवत्त्वात्। लोके राज्ञाऽऽज्ञप्ताद् दण्डात् सदाचारशतेनापि न मुच्यते तथैव ॥२६॥

हिन्दी व्याख्या—मोह का ही महत्त्व बतलाते हैं। हमारा शरीर हमारी अहम्बुद्धि का विषय है। हम अपने को शरीरधारी न मानते हुए शरीर रूप में मानते हैं जबकि तर्क प्रमाणों से यह बात गलत ठहरती है। फिर भी गलती ही हमें अच्छी लगती है। हमारी इस गलत धारणा का मूल कारण है हमारे वे प्रारब्ध कर्म जिन्होंने अपने सारे शुभाशुभ फलों के उपभोग के लिए इस शरीर को हमारी भ्रान्ति की नींव पर महल की तरह खड़ा किया है। यथार्थ ज्ञान के न होने से भ्रान्ति उत्पन्न होती और टिकती है। यदि किसी को यथार्थ ज्ञान से देर तक वञ्चित रखा जाये तो उसकी भ्रान्ति देर तक बनी रहती है। हमारे प्रारब्ध कर्म शास्त्रों पर हमारी अनास्था बनाये रखते हैं। हम मुँह से तो शास्त्रों की दुहाई देते हैं किन्तु उनके निर्णयों पर हमारी उदासीनता बनी रहती है। हमारी यह मानसिकता हमारे प्रारब्ध कर्मफल भोगों की अज्ञात तैयारी का निर्वाहक है। देखा जाता है कि मनुष्य अपने शुभाशुभ फलभोगों की दिशा में अनजाने ही बढ़ा करता है। अन्य प्राणियों के जीवन में भी ऐसी कई आश्चर्यमय घटनायें देखी जाती हैं। बहुतबार प्राणी सामान्य नियमों के विपरीत असामान्य गतिविधियों में लिप्त होकर असाधारण शुभ या अशुभ फल पा लेता है। इसी प्रकार सामान्य सुगम शास्त्रज्ञान की उपेक्षा करके हम वह असामान्य शुभाशुभ कर्म करने लगते हैं जिनका ज्ञात अज्ञात व्यवहित

अव्यवहित फल पूर्व निर्धारित रहता है। इस तरह हम देखते हैं कि

हमारा प्रारब्ध हमारे अनुभवों पर इतना नियन्त्रण रखता है कि हम उसके फलों से भिन्न किसी अभ्युदय या निःश्रेयस की ओर ताक भी नहीं पाते। यही बात भगवान गीता में कहते हैं—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। ३।३३।।

यही बात यहाँ कह रहे हैं कि जब तक मोह की नींव पर खड़ा यह शरीर सौध खड़ा है तब तक किसी को आत्मबोध कैसे हो सकता है। तब प्रश्न होता है कि वेदान्त आदि शास्त्र समूह क्यों है ? उत्तर है कि मोहके रहते वेदान्त वाक्य समूह को हम केवल तत्त्व-वचन-रचना-कौशल मात्र कह सकते हैं। क्योंकि जब तक प्रारब्ध कर्म हैं तब तक भले बुरे संस्कारों और उनके अधीन मोह का प्रभाव रहता है। उस स्थिति में न तो ध्यानयोग काम करता है न यम-नियमादि तपस्या काम करती है और न निष्काम कर्मयोग ही काम करता है। मोह प्रारब्ध का जिम्मेदार सेवक है। जब तक चेतन को प्रारब्ध का एक-एक फल शरीर के माध्यम से मिल नहीं जाता तब तक वह शास्त्र वचनों की ओर उनके सहायक ध्यान आदि प्रयत्नों की मूसलधार वर्षा के बीच अभेद्य चट्टान की भाँति खड़ा रहता है ।।२९।।

मोहस्तनौ तनुसुखेष्वपि मोहजालं,
विस्तारयत्यतितरामथ कामकोपान् ।
संसार एष सुधियामधियाञ्च तुल्यः,
सच्छास्त्रशीलनसुपुण्यसपक्ष ईशः ।।३०।।

संस्कृतविवरणम्—मोहबहुलेऽपि जीवने शास्त्राभ्यासस्य साफल्यमाह मोहस्तनावित्यादि। तनौ शरीरे, स्थितो मोहः आत्मना अविवेकः, तनुसुखेषु शरीरसुखसाधनेषु अपि, मोह जालम् स्वसन्तानम्, अतितराम् शास्त्रनीतिज्ञानापह्नवपर्यन्तम्, विस्तारयति वर्धयति, अथ अनन्तरम्, कामकोपान् सुखसाधनतत्सम्बन्धिषु रागद्वेषमयान् बहून्विकारान् जनयति। एष संसारः चेतनानाम् अनवरतकर्मफलभोगपथ-सञ्चलनम्, सुधियां शास्त्रज्ञानानुष्ठानवताम्, अधियाम् अदृष्ट

शास्त्राणाञ्च, तुल्यः समानफलः। तर्हि किं शास्त्रपरिशीलनेनेत्यत्राह–सच्छास्त्रशीलनसुपुण्यसपक्ष ईश इति। वेदान्तादि शास्त्राणां नियम-संयमसहिताभ्यासेन एकम् असाधारणम् पुण्यं धर्मविशेष उत्पद्यते तद्यत्र भवति तत्पक्षपाती भगवान् तस्यैव हितसाधने प्रवर्तते न तद्रहितस्य। सनियमशास्त्राभ्यासेनाभिनवं सुकृतमुत्पन्नम्प्रारब्धरूपापन्नं क्वचित्स-द्योऽपि फलकारि भवति। तेन सुनियतफलः शास्त्राभ्यासो मुमुक्षुभि-रितरैश्च नित्यं वाञ्छनीय इत्यर्थः ॥३०॥

हिन्दी व्याख्या—कोई भी चेतन अपने को देहरूप में ही पाता है। जब वह अपने लिये 'मैं' कहता है तब देह को अपना विशेषण और अपने को देह का स्वामी मानता है, किन्तु इन्द्रियों से अपने को पकड़ नहीं पाता, इससे अधिकांश अवसरों में देह को ही अपना रूप मानकर देहात्मवादी बन जाता है। वास्तव में वह न तो देह है न देह वाला है। देह से उसका सम्बन्ध भ्रमवश छोटी-सी जीवनावधि के लिये होता है। वह अगणित देह धारण करके छोड़ चुका है। आगे भी ऐसा सम्भव है। चेतन अपनी लम्बी संसार यात्रा पर ध्यान नहीं दे पाता। वह केवल वर्तमान देह और उससे सम्बन्धित व्यक्तियों को अपना माना करता है। यही उसकी पशुता है। पशु अधिकांश कष्ट में रहते हैं। वह मजबूत पाशों में बँधे रहते हैं। कर्मभोगमय संसार वासना ही चेतन पशुओं का पाश है। यह पाश देह से सम्बन्धित होता है। देहानुरूप आहार विहार चेष्टाओं से चेतन बँधा होता है। बकरी पत्ते चरती है और बैल घास पुआल। इस प्रकार देहधारी चेतन देहा-नुबन्धी तत्त्वों में स्पृहा ममता रागद्वेष रखता हुआ संसार बढ़ाता है। यदि कोई मनुष्य पढ़ लिखकर शीलवान् शास्त्रज्ञ और अध्यात्मनिष्ठ भी हो जाता है तो भी देहानुबन्धी तत्त्वों में स्पृहा ममता रागद्वेषादि से वह अछूता नहीं होता। इस दृष्टि से देहाभिमानी और ज्ञानी दोनों तुल्य लगते हैं। फिर भी ज्ञानी की यह एक विशेषता होती है कि वह यदि शीलवान् सच्चरित्र भी होता है तो वह अन्दर ही अन्दर एक विशाल ज्ञानयज्ञ करता रहता है। वह यज्ञ उस समय पर स्वर्ग से भी

ऊपर पहुँचा सकता है। वह ऊपर जाता ही है। भगवान् सदा उसके साथ रहते हैं। प्रारब्ध के अन्त में उसे उचित स्थान देते हैं। इससे व्यक्ति के लिये हित यही है कि वह तप सहित स्वाध्याय में लगा रहे। प्रारब्ध को अधिक महत्त्व न दे। अपने शुद्ध स्वरूप से सम्बन्धित अधिकार और कर्तव्यों पर अर्थात् केवल परमात्मा के प्रति नित्य अनुगमन स्मरण ध्यान अर्चन प्रणाम में अपने शरीर मन वाणियों को जोड़े रहे ॥३०॥

तच्छास्त्र एव नियमेन मतिं नियुङ्क्ते,
धीमानपारभवसागरपारदर्शी ।
अन्तर्नियच्छति हरिः श्रमिणं समीक्ष्य,
श्रद्धां रतिं च दययोन्नयते शुभाय ॥३१॥

संस्कृतविवरणम्—शास्त्रश्रमफलम्पुनरप्याह तच्छास्त्र एवेत्यादि। तत् पूर्वोक्तहेतोः, अपारभवसागरपारदर्शी अज्ञानावस्थायाम् अपारस्यापि भवसागरस्य संसारवारिधेः, ज्ञानेन परमात्मानम् पारं द्रष्टुं शीलं यस्यासौ तथोक्तः, धीमान् शास्त्रार्थेषु सामान्य ज्ञानवान् निःश्रेयसनिविष्टमतिः, मतिं स्वबुद्धिम्, नियमेन विरोधिचिन्ताराहित्येन, शास्त्र एव आत्मविद्यासन्दर्भेष्वेव, नियुक्ते नियोजयति, हरिः सकलसाध्यसाधननियमनप्रवणः परमात्मा, अन्तर्नियच्छति सर्वेषाम् अन्तःकरणं कर्मफलानुकूलतयाऽवस्थापयन् तन्मतिव्यापारस्थान एव तिष्ठति, फलप्रदः स्वयं कर्म पश्यति स श्रमिणम् मनोबुद्धि-नियमनश्रमपरायणं, तस्य श्रद्धां कर्मसु तत्फलेष्वपि प्रीतिविशेषं, रतिम् कर्तव्येऽनुरागञ्च, समीक्ष्य अन्यूनानधिकमवधार्य, दयया तदीयक्लेशासहिष्णुतया, शुभाय वाञ्छिताय निःश्रेयसाय श्रमफलातिशयानुकूलावस्थया योजयते मुमुक्षुम् ॥३१॥

हिन्दी व्याख्या—यद्यपि मोह के रहते शास्त्रश्रम विफल समझ में आता है फिर भी ऐसा नहीं है। वह अपने समय पर बहुत उत्तम फल प्रस्तुत करता है। इससे जो लोग इस तथ्य को समझ चुके हैं और

जो इस संसार में परमात्मा के सिवा अन्य कोई उपादेय तत्त्व नहीं समझते, इससे जिनका ध्यान भगवत्प्राप्ति में ही लगा रहता है ऐसे लोग अपनी बुद्धि को सदा अध्यात्म विद्या में ही लगाये रहते हैं। ऐसे लोगों के मानस तप को भगवान् निकट से देखते रहते हैं। उनकी श्रद्धा और कर्तव्य के प्रति अनुराग भी भगवान् के सामने होता है। निरन्तर श्रम देखकर वे कभी द्रवित होते हैं और उत्तम फल के लिए निर्विघ्न स्थिति प्राप्त करा देते हैं ।।३१।।

बन्धुः समस्तजगतां सुधियां विशेषाद्,
भक्तस्य बोधविभवस्थ समीपवर्ती ।।
सर्वार्पणोज्झितसमस्तभरम्प्रपन्नम्,
पश्यन्प्रशंसति हरिर्निजबन्धुभावम् ।।३२।।

संस्कृतविवरणम्—भवबन्धनिवारकस्य भगवतः सहजस्वभावम्प्रस्तौति बन्धुरित्यादि। हरिः प्रस्तुतो भगवान्, समस्त जगताम् ब्रह्मादितृणपर्यन्तानां समस्त-चेतनानाम्, बन्धुः हितसाधनप्रवणः, सुधियाम् अवधारिततत्त्वहित-पुरुषार्थानाम्, विशेषात् प्रज्ञानुकूलोत्कृष्टफलसाधनपरतयोत्कृष्टो बन्धुः, बोधविभवस्य भक्तस्य सविधिवेदान्तविद्याभ्याससिद्धभक्तिकस्य, समीपवर्त्ती नित्यमविस्मृतः सान्निध्यातिशयेनेवोपकारी बन्धुः, सर्वार्पणोज्झितसमस्तभरम् आत्मानम् आत्महितञ्च संकलम्भगवत्येव तत्सङ्कल्पाधीनमेव पश्यन्तं तेन स्वस्मै स्वकर्तव्यधारयितव्यरहिततया निर्भरम्, प्रपन्नम् भगवन्तमेव नित्यं रक्षकम्मन्वानम् मुमुक्षुम्, पश्यन् स्वासाधारणदृग्विषयं कुर्वन् स हरिः, निजबन्धुभावम् चेतनजातम्प्रति सुहृत्त्वम्, प्रशंसति अन्येषां विपरीतकर्मस्पृहाचेष्टाप्रतिबद्धस्य, अत्र च निरवरोधस्य बन्धुभावस्य सन्निहित फलोपधानमाकलय्य स्वयम् प्रसीदतीत्यर्थः ।।३२।।

हिन्दी व्याख्या—भगवान् प्राणिमात्र के हितसाधनसमर्थ बन्धु हैं फिर भी उनका हित नहीं हो पाता है उनके स्वहितविरुद्ध कर्मों इच्छाओं और चेष्टाओं से। जो ज्ञानी भक्त होते हैं उनके हित साधन

भगवान् के लिए बहुत आसान होता है। भक्ति उत्पन्न हो जाने के बाद उनका पहले जैसा अहित नहीं होता। जब तक उनके प्रारब्ध कर्म-फल समाप्त नहीं हो जाते तब तक भगवान् उनके निकट वैसे ही रहकर दर्शन देते रहते हैं जैसे पाताल में बलि को। किन्तु यदि कहीं कोई ऐसा शरणागत मिल जाता है जो उनके प्रति पूर्णरूप से समर्पित रहता हुआ आत्मकल्याण का परिपूर्ण दायित्व उनमें ही मानता हुआ अपने प्रति कोई भी कर्तव्य न मानने से अपने विषय में सदा निश्चिन्त रहता है तो उस पर अपने दयापूर्ण बन्धुत्व के सफल होने में कोई व्यवधान शेष न रह जाने से शीघ्र सफल होने वाले अपने बन्धुभाव की सराहना करते हैं निष्ठावान् शरणागत चेतन, भक्त की अपेक्षा जल्दी सफल होता है। इससे वह प्रभुकृपा का प्रथम अधिकारी माना जाता है ॥३२॥

जन्मान्तरक्रमसमर्जितपुण्यराशि-
दीप्तस्वबोधविभवो बहिरप्यपश्यन् ।
कल्प्यः कदाऽपि समतां गतवाञ्छुकादेः,
श्रीशात्मनः प्रकृतिबन्धविवर्जितस्य ॥३३॥

संस्कृतविवरणम्—तत्त्वनिष्ठस्यात्यन्तदुर्लभतामाह जन्मान्तरेत्यादि। जन्मान्तरक्रमसमर्जितपुण्यराशिः अतीतनिरन्तरनानाजन्मस्वनुष्ठितस्वरूपनिष्ठाप्रधान निष्कामकर्मयोगः, तेन दीप्तस्वबोधविभवः स्पष्टस्वस्वरूपदृष्टितिरस्कृत-देहात्मभावः, बहिः अपश्यन्नपि स्वस्वरूपातिरिक्तदेहादिदृष्टिरहितश्च, प्रकृतिबन्धविवर्जितस्य चतुर्विंशतितत्त्वसम्बन्धसम्भूतमोहादिदोषतत्कार्यरागादिरहितस्य, श्रीशात्मनः परमात्मसाम्यापन्नस्य, शुकादेः शुकवामदेवसनकादिविधिनारदादीनां सन्ततस्वदृष्टिविधूताज्ञानानाम् भक्तिभानुप्रचयप्रथितानाम्, समतां साधर्म्यं, गतवान् प्राप्तः, कदाऽपि अनाद्यनन्तकालप्रवाहे दुर्निरूपे क्वचिदेकत्र, कल्प्यः स्यादित्येव स्वीकार्यो न तु साक्षात्कर्तुं मर्हो भवतीत्यर्थः। शुको हि जन्मप्रभृत्येव तपसे प्रवव्राज। तेन पित्रा तत्त्वविदा व्यासेनापि कीदृक्स्वभावशीलोऽयम्मत्सुत इति निरूपणायापि नोपलब्धः।

विश्लेषक्लेशवारणाय परमेष्ठिना निर्मितोदशमुखेन छायासी तेव छायाशुकस्तेन लब्धः, का कथाऽन्येषांम् । एवमेव सन्ति वामदेवा-दयोऽपि ॥ ३३ ॥

हिन्दी व्याख्या—सृष्टि में तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति शायद ही कहीं उत्पन्न होता है। वह भी समाज में रहना नहीं चाहता। वह तो खेल से अलग बैठे खिलाड़ी की तरह या पानी में हल्की वस्तु की तरह या भूमि से हटकर वृक्ष पर या आकाश में विचरणशील पक्षी की तरह या वायुयान की तरह पृथिवी से और अर्थ कामपरायण सामाजिक व्यक्तियों से सदा दूर रहता है। ऐसी स्थिति में हम उन व्यक्तियों की केवल कल्पना कर सकते हैं जो चिरार्जित पुण्य प्रभाव से निरन्तर स्वस्वरूप दृष्टि प्राप्त कर चुके होने से शुकादि मुनियों की समता पा चुके हों। वे व्यवहार में नहीं आते, इससे वे एक तरह से नहीं के बराबर होते हैं ॥ ३३ ॥

सामान्यतो जगति ये भगवत्प्रपन्ना,
ये लब्धबोधविभवाः शुकताम्प्रपन्नाः ।
तुल्या हरेर्भवभयोद्धरणोद्यतस्य,
सेव्यं शुकादिगदितन्तु समं समेषाम् ॥३४॥

संस्कृतविव्वरणम्—प्रपत्तिनिष्ठानामिव तत्त्वनिष्ठमुमुक्षूणा-मपि प्रकृतिविनिर्मुक्तौ तुल्यमेव भगवदपेक्षित्वमित्याह सामान्यत इत्यादि। ये जगति लोके दृश्यमानाः, सामान्यतः प्रज्ञामात्रेण वचो-मात्रेण च प्रपन्नसादृश्येन न तु प्रपत्तिनिष्ठया, भगवत्प्रपन्नाः शरणागति निष्ठा महापुरुषा, ये च लब्धबोधविभवाः सुचिरार्जिततपः प्रभावेण स्वरूपनिष्ठाकाष्ठाम्प्राप्ता,उभयेऽपि ते भवभयोद्धरणोद्यतस्य सांसारिक-क्लेशात्यन्तविमोक्षणव्यापारम्भतत्परस्य, हरेः सकलसाध्यसाधन स्वामिनः परमात्मनः, तुल्याः समानायाससाध्यमोक्षणाः सन्ति, मुक्तौ स्वातन्त्र्या-भाव उभयेषामपि समान इति यावत् । शुकादिगदितं निगमकल्पतरो-रित्यादि श्रीमद्भागवतादिवाङ्मयजातं तु, समेषाम् प्रपन्नानाम्-

क्तानाञ्चो भयेषाम्, समं तुल्यमेव श्रद्धया नित्यानुसन्धेयम् । भक्तेरिव प्रपत्तेरपि समाना पुष्टिरध्यात्मशास्त्रैर्भवतीत्यर्थः ॥३४॥

हिन्दी व्याख्या—मोक्ष के लिए प्रपत्तिनिष्ठा और भक्तिनिष्ठा ये दो प्रमुख उपाय हैं। दोनों निष्ठा वालों को आत्मोद्धार के लिए भगवान् की समान अपेक्षा होती है और भगवान् के लिए भी ये दोनों तुल्यरूप से ही उद्धरणीय होते हैं। किसी एक का उद्धार सहज और दूसरे का कठिन नहीं है। दोनों को प्रारब्धान्त समय की प्रतीक्षा होती है। प्रतीक्षाकाल में शुकादि निगदित भागवतादि ग्रन्थ का सेवन जैसे शरणागतों के लिए अपेक्षित हित पथ्य है वैसे ही शुकादि तुल्य दुर्लभ भक्तों के लिए भी है। इसीसे शुकमुनि ने स्वयं कहा है—

पिबत भागवतं रसमालयम् मुहुः…… ।

यहाँ आलयम् मुक्तौ स्वस्य परमात्मनि लय पर्यन्तम् अर्थात् जब तक आप परमात्मा में लीन नहीं हो जाते तब तक श्रीमद्भागवत रस का पान करते रहिये, ऐसा सुझाव ध्यान में रखने योग्य है ॥३४॥

चेतोमराल ! भवसिन्धुमशुभ्रतोयं,
हित्वा श्रयस्व भगवद्गुणदुग्धसिन्धुम् ।
सच्छास्त्रतीरमनुभूतिसरोजगन्धो-
द्धूतत्रितापममृतच्छविमाश्वनन्तम् ॥३५॥

संस्कृतविवरणम्—अन्ते कल्याणाय स्वमनः प्रार्थयते चेतो मराल इत्यादि श्लोकद्वयेन। हे चेतो मराल! मानस राजहंस! अशुभ्रतोयम् अत्यन्तमलिनतयाऽसेव्यजलभरितम्, भवसिन्धुम् संसार-सागरम्, हित्वा सवासनं विहाय, सच्छास्त्रतीरम् भगवच्छास्त्रद्वारैवाव-तरणार्हम्, अनुभूतिसरोजगन्धोद्धूतत्रितापम् नवनवस्फुटमानभगवदनु-भवकमलकिञ्जल्कसौरभदूरवारितसकलसंसारतापम्, अमृतच्छविम् मुक्तितुल्यस्पृहाविषयम्, अनन्तम् अनुभूतिविरामानर्हम्, भगवद्गुण-दुग्धसिन्धुम् [illegible] एव [illegible], [illegible] श्रयस्व सन्ततसुखायालम्बस्व ॥३५॥

हिन्दी व्याख्या—ग्रन्थ के अन्त में अपने मन को हंस के रूप में सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मनरूपी राजहंस! तुम इस गन्दे पानी से भरे संसार समुद्र में विचरण छोड़ दो और शीघ्र ही भगवान् के कल्याणमय गुणसागर में प्रवेश करो। वह समुद्र श्रीनारदपाञ्चरात्रादि श्रीविष्णुपुराण श्रीमद्भागवतादि भगवत्प्रतिपादक शास्त्ररूपी तट से शुरू होता है। वहीं नित्य नये अनुभव रूपी कमल खिलते हैं। उन कमलों के संस्काररूपी किञ्जल्क और सौरभ से तुरन्त ही सारे सांसारिक ताप दूर हो जाते हैं। वह सागर मोक्षतुल्य ही निर्दोष और आनन्दमय है। उसका कोई पार और थाह नहीं है ॥३५॥

वाचः पराशरतदात्मजतत्सुतेभ्यो,
या निर्गताः श्रुतिरहस्यरसप्रसिक्ताः ।
ताभ्यो न भिन्नममृतम्परमम्पदं वा,
ब्रह्मापि सेव्यमनिशं श्रुतिशीर्षरत्नम् ॥३६॥

संस्कृतविवरणम्—उक्तक्षीरसिन्ध्ववताराय तटं स्तौति वाच इत्यादि। पराशरतदात्मजतत्सुतेभ्यः विष्णुधर्मोत्तरसहितश्रीविष्णु पुराणरचयिता पराशरः तदात्मजो ब्रह्मसूत्र-श्रीमद्भागवतमहापुराण रचनाप्रथितः स्ववशसकलश्रौतस्मार्तवाङ्मयो महाभारतवारिधि विवितासाधारणवैदुष्योऽपान्तरतपा वेदव्यासः तत्सुतो भगवदनुभवैक-निविष्टचेताः श्रीशुकदेव, इति त्रिभ्यः एतेभ्य सकाशात्, श्रुतिरहस्यरस-प्रसिक्ताः वेदान्तमुख्यतात्पर्यविषयभगवद्भक्तिप्रपत्तिशबलिता या वाचः प्रियहितपरवचनप्रवाहाः; निर्गताः प्रादुर्भूताः, ताभ्यः सकाशात् भिन्नम् अतिरिक्तम्, अमृतम् सुरसमूहसेव्यो रसविशेषो मोक्षश्च, न नास्ति, श्रुतिशीर्षरत्नम् वेदान्तावसेयम्, अनिशं सेव्यम् सततप्रियतमानुभव-विषयः ब्रह्मापि नास्ति। सर्वम् उक्तवाङ्मयजातमेव नान्यदिति स्तुतिः ॥ ३६ ॥

हिन्दी व्याख्या—सुनते हैं कि कोई मोक्ष नाम की अनन्त आनन्द-मय अवस्था होती है और वैकुण्ठ साकेत गोलोक आदि मोक्षधाम भी

होते हैं। वहाँ मोक्ष का आनन्द रहता है। कोई भगवान् भी हैं जो वहीं मिलते हैं। वे इतने आकर्षक हैं कि एकबार मिलने के बाद छूटते नहीं। इससे भक्त उनमें लीन हो जाता है। किन्तु आज तक इस लोक में उनका पता नहीं चला है। अवश्य हमारे सामने महर्षि पराशर द्वारा रचित विष्णुपुराण है और व्यासशुक सेवित उपनिषद् गीता भागवतादि ग्रन्थ हैं। इनसे एक वाक्यता वाले प्राचीनतम रसमय तमिल् दिव्य-प्रबन्ध भी हैं। हम समझते हैं कि उक्त मोक्ष वैकुण्ठ और भगवान् ही इन वाङ्मयों के रूप में हमें उपलब्ध हैं। क्योंकि इनमें गोते लगाने से जो आनन्द मिलता है उससे बढ़कर कोई आनन्द हो सकता है, ऐसी कल्पना हम नहीं कर सकते। इससे इन ग्रन्थों का ही सानुराग सेवन करते रहना चाहिए। यदि मोक्ष आदि कोई भिन्न तत्त्व होंगे तो यहीं मिलेंगे ॥ ३६ ॥

संश्रित्य ये सुकृतिनो भगवत्पदाब्जम्,
मोक्षाय कर्म सकलं सुधियश्चरन्ति ।
तेषामिमानि मतिमन्ति वचांसि नूनं,
किञ्जल्कवत्प्रतिपदेषु चिरं स्वदेरन् ॥३७॥

संस्कृतविवरणम्—ये सुकृतिनः पुण्यशीलाः, सुधियो विद्वांसः, भगवत्पदाब्जं संश्रित्य शरणम्प्रपद्य,सकलं कर्म नित्यनैमित्तिकादि,मोक्षाय न तु त्रिवर्गाय, चरन्ति अनुतिष्ठन्ति, तेषांकृते इमानि प्रस्तुतानि, मतिमन्ति स्वप्रज्ञोत्तम्भनप्रवणानि, वचांसि नूनम् अवश्यमेव, किञ्जल्कवत् अवलम्बितश्रीभगवच्चरणकमलमधुतुल्यम्, प्रतिपदेषु शब्दशः, चिरम् निरन्तरम्, स्वदेरन् सततासेवनहेतुरुचिविषयाः स्युः ॥३७॥

हिन्दी व्याख्या—जिन पुण्यशील विद्वानों ने आत्मकल्याण के लिए भगवान् के चरण-कमलों का सहारा ले लिया है और सारे कर्म मोक्ष के लिए करते हैं, त्रिवर्गपरायण नहीं होते उन्हें बुद्धि को कल्याण की ओर अग्रसर करने वाले ये वचन अवश्य ही भगवान् के उन चरण-

कमलों के मधु के तुल्य प्रिय लगेंगे जिनका सहारा वे पहले ही ले चुके हैं ।। ३७ ।।

मुनिगुणमितपद्यानामसकृन्नवनवास्वादहृद्यानाम् ।
विष्वक्सेनकृतानां रसमसमं सुकलयन्तु शिशवोऽपि ।३८

संस्कृतविवरणम्—अन्ते, स्वनाम्नोपसंहरति मुनिगुणेत्यादिना । विष्वक्सेनकृतानां श्रीवैष्णवेषु विष्वक्सेनाभिधया प्रथितेन विरचितानाम्, असकृद् भूयोभूयो, नवनवास्वादहृद्यानाम् अपरापरतात्पर्यरसव्यवस्त्या सकृत्पठित्वोपेक्षितुमयोग्यानाम्, मुनिगुणमितानाम् सप्तत्रिंशत्संख्याकानाम्, पद्यानाम् असममसामान्यम्, रसं स्वादावहं सारांशम्, शिशवोऽपि भाषायाम् अल्पप्रौढिमन्तोऽपि, सुकलयन्तु यथामति अनायासमेव बुध्यन्तु ।।३८।।

हिन्दी व्याख्या—अन्त में नाम से अपना परिचय देते हुए उपसंहार करते हैं कि श्रीवैष्णवों में विष्वक्सेन आचार्य के नाम से परिचित डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय के द्वारा विरचित बार-बार नूतन अर्थ और भाव प्रस्तुत करने वाले इन सैंतीस पद्यों का असाधारण अर्थ भाषा में कम व्युत्पत्ति रखने वाले बच्चे भी अपनी क्षमता के अनुसार ग्रहण और धारण कर सकते हैं । उन्हें भी इसमें बहुत कुछ शिक्षा और सन्तुष्टि प्राप्त होगी ।। ३८ ।।

।। सानुवाद सत्पाथेय ग्रन्थ पूरा हुआ ।।

卐

• श्रीमते रामानुजाय नमः •

सत्पथमार्तण्डः

[स्वोपज्ञसंस्कृतहिन्दीविवरणव्याख्यानसंवलितः]

काशीसंस्कृतविद्वन्मण्डलमण्डनमतिवचोविलासानां सकलदर्शनारण्यपथावगमप्रथितानाम् उभयवेदान्तविद्यावितरणक्षपितसकलदिवसानां सुविदितशमदमविशुद्धधिषणानाम् बदरीनारायणभगवच्चरणरतिनीतसकलभावानां शैशवादेव विद्याव्यसनितया सन्त्यक्तसंसाराणां तपोनिधिश्रीरङ्गाचार्यस्वामिवर्याणां, चरणशरणसमाश्रयणलब्धसत्ताकेन नव्यन्यायनव्यपाणिनीयव्याकरणाचार्येण, वेदान्तसाहित्यज्यौतिषजैनबौद्धादिनास्तिकदर्शनकाननेष्वपि विहितभूरिसञ्चरणेन, विद्यावारिधिना उत्तरप्रदेशीयविविधसंस्कृतमहाविद्यालयेषु विद्यादानप्रथितेन, झलोखर-संस्कृत-महाविद्यालयप्रधानाचार्यपदसम्बन्धि सेवा-विश्रान्तेन

डॉ० विन्ध्येश्वर पाण्डेयेन
(विष्वक्सेनाचार्य) इति सत्सुप्रथितेन
लोहरदगा (झारखण्ड) वास्तव्येन
विरचितम्

॥ जय श्रीराम ॥



शिशुत्वे कौमारे गुरुचरणसेवासु विपिने,
प्रियाऽऽश्लेषेऽशेषेऽसुपकुलकृतानर्थनिरये ।
चिरस्थे सद्राज्ये समयविषमे यन्नपि परं,
स्वरूपस्थो रामः शमयतु सताञ्चित्तकलुषम् ॥

अरुणोदय

हम संसार देखते हैं पर उसके आत्मा को नहीं देखते। हम अपने आपको बहुत कुछ देखते समझते हैं पर यह नहीं समझते कि हमारा अपना आधारभूत आत्मा भी कोई है जो बदलाव की स्थिति में भी नहीं बदलता, एक-सा ही रहता है। सामान्य भाषा में शरीर जैसे स्थूल तत्त्वों को भी कभी आत्मा कह दिया जाता है जो कुछ न कुछ बदलते रहते हैं किन्तु जो तत्त्व अनादि काल से एक-सा ही है, कभी नहीं बदला और न बदल सकता है, जो सभी बदलावों का नियामक और साक्षी है वही परम आत्मा है। उस परम आत्मा को न समझने के फलस्वरूप जीव संसार में अपना इष्ट-अनिष्ट और सही कर्तव्य न जानकर भ्रान्तिवश किये जा रहे अनेक अनुचित कृत्यों के परिणाम स्वरूप त्रिविध ताप झेलता रहता है। यह संसारी जीव अज्ञान जनित कर्मवश अनेक दुःखों में पड़कर अपनाधैर्य खो चुका होता है और अपने बचाव के लिये ऐसे अनुचित उपायों को पकड़े रहता है जिससे क्लेश और ही बढ़ते हैं। वह कर्मजनित अज्ञानवश देह और देहानुबन्धियों में अहङ्कार और ममता बांधे रहता है। फलोन्मुख प्रबल प्रारब्ध से बन्धा रहने के कारण फलविरोधी ज्ञान की बातें उसे अच्छी नहीं लगतीं इससे उसका संसार बढ़ता ही रहता है। संसार अवस्था में जीव के असाधारण अनुच्छेद्य धर्मभूत ज्ञान में बदलाव होता रहता है इससे वह परम आत्मा नहीं है। भगवद्गीता में, (अ० १३ श्लो० ३१) एकवार क्षेत्रज्ञ जीव को परमात्मा कहा गया है। वह उसका परमात्मत्व देहेन्द्रियादि सापेक्ष है। सादृश्यमूलक लक्षणा से भी जीव परमात्मा कहा जा सकता है।

ज्ञानविरोधी कर्मप्रवाह में कभी एक ऐसा भी समय आ जाता

है जब जीव अपने आत्मा और परमात्मा के भेद और सम्बन्धों को

झलक पा जाता है। तब वह तात्कालिक विवेक से स्वयं परमात्मा की पूर्ण अधीनता स्वीकार कर अपने सम्पूर्ण जीवन को भगवत्सेवा रूप मानने लगता है। इसी सामान्य नियम रूपी केन्द्रविन्दु पर यह 'सत्पथ-मार्तण्ड' अवस्थित है।

इसके अधिकारी—

दुःखों को जड़ से ही मिटा डालने की श्रद्धा जिनके हृदय में टिकती है वे इस निवन्ध के अधिकारी हैं। भगवान् ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दर्शन कराया है। औरों को भी कईबार ऐसा दर्शन मिला है। भगवान् के उस अपरिच्छिन्न शास्त्रीय रूप को ही सही मानना चाहिए। राम-कृष्ण, वामन, वराहादि रूपों में भी वही रूप अव्यक्त रूप में रहता है। भगवान् कभी भी एकदेशी या मूर्त नहीं हो सकते। अवश्य ही वे अपने मायामय सङ्कल्प से उस रूप में उपलब्ध होते रहते हैं। तत्त्वनिष्ठ साधक शास्त्र संस्कारित अपनी ज्ञान दृष्टि से अणु-अणु में अनन्त ब्रह्माण्डनायक के दर्शन पाता रहता है। क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड-नायक परमात्मा विश्व के अणु-अणु में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से सदा से विराजमान हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड परमात्मा की अनन्त शक्तियों का एक छोटा-सा अंश है। यह तथ्य भौतिक दृष्टि से पकड़ में आने वाला नहीं है। वेदादि शास्त्रों से ही यह समझा जा सकता है। हम चाहे जिस मूर्ति में पूजा करें वह पूजा उस अनन्तरूप परमात्मा को ही प्राप्त होती है। क्योंकि वह सर्वत्र उपस्थित हैं, परम चेतन हैं, सर्वाभिमानी हैं। हम यदि परमात्मा न जानें या भूल जायें और अ, ब, स, की पूजा करने लगें तो भी वह पूजा परमात्मा को ही सीधे प्राप्त होगी। क्योंकि अ, ब, स, द चाहे कोई भी हों पर परमातमा वहाँ अपने को अ, ब, स, द माने बैठे हैं और लौकिक अ, ब, स, द से अधिक चैतन्यमय और पूजा स्वीकार तथा फलदान में सर्वाधिक सक्षम हैं। इसी प्रकार हम यदि अ, ब, स, द के प्रति कोई अपराध करते हैं तो अपराध बोध पहले पूर्णरूप से उन्हें ही होता है। कण-कण में उस अनन्त का दर्शन करके

वाला ही उनका सच्चा भक्त होता है। भगवान् उसे ही मिलते हैं। सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखने वाला व्यक्ति यदि अपने आप में उन्हें शास्त्रोक्त रूप में नहीं देख पाया तो उसकी दृष्टि अधूरी ही रहेगी। दृष्टि के अधूरेपन से फल भी अधूरा रहेगा।

अपने आप में, अपने स्वयं प्रकाशरूप में, न कि अपने चित्त में परमात्मा को अन्तर्यामी धारक और भोक्तारूप से नित्य अवस्थित मानना और इस मान्यता के अनुरूप ही अहर्निश जीवन व्यतीत करना तत्त्वदर्शन, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और धर्माचरण की पराकाष्ठा है। यह दृष्टि ही सुदृढ़ होकर मोक्ष का कारण बनती है। आत्मकल्याण की सारी साधनाओं का फल एकमात्र यह तत्त्वदृष्टि है। इस निबन्ध में मुमुक्षु चेतन तत्त्व को परमात्मा की एक बहुमूल्य मूर्ति के रूप में प्रस्तुत करते हुए उक्त मूर्ति में पूजा के ज्ञानमय कुछ असाधारण उपकरण जुटाने की प्रेरणा ललित सरस तत्त्वदृष्टिमय शब्दों से दी गयी है। चिरकाल इसका मनन करने से अनेक शास्त्रों के रहस्य समझ में आयेंगे और उनके अध्ययन में रुचि और प्रवृत्ति भी होगी। आगे तत्त्वदृष्टि प्राप्त होगी और चेतन आत्यन्तिक कल्याण का भागी होगा।

समर्पण और परमार्थ—

भारतीय दर्शन मुख्य बारह विभिन्न धाराओं में विभक्त हैं। प्रत्येक में आत्मकल्याण के ज्ञानात्मक उपाय विस्तार से वर्णित हैं। अज्ञानी लोग इन्हें केवल भटकाव के लिए बने दुष्पार कान्तार के रूप मानते हैं। कुछ लोग दो तीन या चार की एक वाक्यता से कल्याण सम्भव मानते हैं। वास्तव में गहन आत्मतत्त्व के दर्शन के लिए कम से कम इन बारह का तलस्पर्शी ज्ञान आवश्यक है। आत्म-कल्याण के राजमार्ग में बारहों का स्वतन्त्र सन्निवेश है। इस राजमार्ग के निर्माण में उस भक्ति शास्त्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है जो सरस्वती की धारा की भाँति सतत प्रवाहित हो रहा है। भक्ति की पूर्ति प्रपत्ति से होती है। उस प्रपत्ति का ही एक अङ्ग है समर्पण। यह समर्पण वह तत्त्व

है जिसकी व्याख्या करने में समस्त निगम आगम स्मृति इतिहास पुराण दर्शन और विज्ञान तब तक सक्षम नहीं हो पाते जब तक एक सदाचार्य और एक सच्छिष्य के रूप में स्वयं वेदार्थ तत्त्व परमात्मा प्रस्तुत न हो जायें। उस राजमार्ग से गया हुआ व्यक्ति वापस लौटकर संसार में बतलाता नहीं है, और संसारी लोग केवल सुनकर उस पर आस्था नहीं बना पाते। उस मार्ग को ठीक से समझ न पाना ही संसार है। समझ पूरी होते ही संसार छूट जाता है। वह समझ विद्युत से अधिक गति और दाहक शक्ति रखती है। यह बात भगवान् ने स्वयं अर्जुन को कही है। 'यथैधांसि०.....' (४।३७ गीता)। उस मार्ग को एकमात्र वह भगवान् बतला सकते हैं जो संसार और उसके पार में समान रूप से अवस्थित हैं। किन्तु उनसे सुनेगा कौन? किसे यह असार संसार बहुत प्यारा नहीं लगता। मोक्ष की चर्चा और मौखिक मुमुक्षा प्रकट करना तो आसान है किन्तु वास्तव में मोक्ष की इच्छा इसलिए नहीं होती कि मन इन्द्रिय प्राण शरीर और भोगों से गहरा लगाव रहता है, उनके बिना रहने की कल्पना भी नहीं होती। फलस्वरूप परमात्मा को आज तक कोई जिज्ञासु शिष्य नहीं मिला, तब उन्होंने स्वयम् आचार्य और शिष्य के रूप में नर और नारायण नाम से बदरीवन में प्रकट होकर आध्यात्म विद्या का प्रकाश किया। उस विद्या के निचोड़ के रूप में जिस समर्पण भाव को समझा और समझाया गया है उसी पर प्रस्तुत निबन्ध में बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है।

वे नर-नारायण अभी भी विश्व-कल्याण के लिए निरन्तर तपस्या कर रहे हैं। उनकी वह तपस्या और कुछ नहीं है, केवल समर्पण को हृदयङ्ग करने और कराने का प्रयत्न है। वह प्रयत्न इसलिए जारी है कि विश्व कल्याण का एकमात्र मार्ग समर्पण ही है। वहाँ से संसार में विशिष्ट अधिकारियों को समर्पण के प्रति अज्ञात प्रेरणा मिलती रहती है। समर्पण का उलटा संसार है। संसार के ही दो विकसित रूप हैं नरक और स्वर्ग। समर्पण और परमार्थ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

परमार्थ का ही दूसरा नाम मोक्ष है। इन बातों का बोध प्रस्तुत निबन्ध के तन्मयतापूर्वक परिशीलन से हो सकता है।

समर्पण और स्वाधीनता—

इस निबन्ध में परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण की बात कही गई है। चेतन की अनादि उच्छृङ्खल भावना इसका विरोध करती है। समर्पण के विरुद्ध प्रश्न होता है कि स्वयम्प्रकाश चेतन तत्त्व स्वयं तो अपने को ज्ञानानन्दमय समझता है किन्तु उसे अपनी पराधीनता की बात कभी नहीं झलकती। हम अपने को कभी किसी के भी आधीन नहीं समझते और न अपने को सदा के लिए किसी के अधीन छोड़ देने की मानसिकता बना सकते हैं। हम तो स्वतन्त्रता चाहते हैं। इसीसे सारे विश्व में समय-समय पर स्वतन्त्रता संग्राम होते रहे हैं और अभी भी जितने संघर्ष हो रहे हैं उनके मूल में हमारी सहज स्वतन्त्रता ही काम कर रही है। परमात्मा के अधीन होने की बात भी समझ में नहीं आती। हम उनके समग्र ऐश्वर्य और दया आदि गुणों को स्वीकार कर सकते हैं पर हम यह भी समझते हैं कि उन्होंने हमको स्वतन्त्र रहने के लिए ही बनाया है। परतन्त्रता की स्थिति अज्ञान से आती है। अशक्ति भी अज्ञान का फल है। नवजात शिशु यदि योगी हो तो वह न तो रोयेगा और न किसी भी प्रकार की सेवा या सहयोग की अपेक्षा रखेगा, वह अपने विकसित ज्ञान से दृढ़ सङ्कल्प के बल से बिना आहार के ही शरीर का विकास भी कर सकता है। हमें शरीर मन बुद्धि वाणी की प्राप्ति और उनके परिणाम सदा पूर्व कर्मों से नियन्त्रित होते हैं। यही हमारी परवशता है। इन कर्मों से छुटकारा पाने का साधन यम नियम-पूर्वक अष्टाङ्ग योग प्रसिद्ध है। हम उसी के सहारे समस्त सिद्धियों के सहित मोक्ष भी पा सकते हैं। ऐसी स्थिति में समर्पण का अवसर कहाँ आता है?

उत्तर है कि परमात्मा ने हमको स्वतन्त्र रहने के लिए बनाया है ऐसा मानने से यह भी सिद्ध होता है कि हमारी सारी स्थितियाँ

उनके सङ्कल्प पर निर्भर हैं। कर्मों और उनके परिणामों से जोड़े रहना भी उनके सङ्कल्प का ही खेल है। योग सिद्धियाँ उनके द्वारा ही प्राप्त होती हैं। ऐसी स्थिति में हम कभी भी उनसे बाहर रहने की नहीं सोच सकते। अनादि काल से कर्मों से हम बन्धे हैं इससे आज तक की उनके प्रति अधीनता स्वतः सिद्ध होती है। आज तक हम आत्मोद्धार के लिए योगमार्ग नहीं अपना सके और अभी भी उसे अपना कर शीघ्र सिद्धि पा लें ऐसा कोई भरोसा नहीं है। क्योंकि योग शास्त्र का और उसके अधीन क्रिया कलाप का ज्ञान हमें नहीं है। ज्ञान प्राप्ति का मार्ग अवश्य खुला है फिर भी हम अभी तक उस प्राप्ति के लिए कुछ भी करने की स्थिति में नहीं हैं। यदि हम कहें कि जब समय आवेगा तब हम योग से सिद्ध और मुक्त हो जायेंगे तो भी समर्पण का भाव योग-मार्ग में बाधक नहीं है, वह तो साधक है। वहाँ भी ईश्वर प्रणिधान को सिद्धि में सहायक माना गया है।

हम जो स्वतन्त्रता के लिए लड़ते हैं वह एक तरह से अनजाने और बिना नियम के कर्मबन्धनों से छूटना चाहते हैं। हमारी यह प्रवृत्ति दयामय प्रभु के दृढ़ सङ्कल्प का फल है। वे तो कर्मबन्धनों से विमुक्त अवस्था में चेतन को पाना चाहते ही हैं। यदि कर्मों की अधीनता से बचना है तो अपने कर्तृत्व को सही रूप से समझना होगा। यह मानना और याद रखना होगा कि हम जो भी कुछ करते हैं वह केवल भीतरी और बाहरी परिस्थितियों से बाध्य होकर करते हैं। जैसे सामने वाले को आर्थिक क्षेत्र में प्रगति करते देखकर स्पर्धावश हम भी प्रगति के मार्ग में जुट जाते हैं। उस समय हम अपने अन्य कर्तव्यों को भूल जाते हैं जबकि पड़ोस का शराबी, ऐय्याशी, विद्यार्थी, पहलवान्, राजनेता, वेश्या आदि को स्पर्धा नहीं होती, वे अपने पूर्वागत प्रियकृत्यों में ही संलग्न रहते हैं। वैसे ही सीमित परिवार वाला, अपनी अर्थस्थिति से सन्तुष्ट, धर्ममार्ग में ही प्रगति कर रहा व्यक्ति भी स्पर्धा नहीं करता। यहाँ तुलना करना या अच्छा बुरा निकालना नहीं है। केवल यह

समझना हैं कि हम स्पर्धा को अपने हृदय में किसी उपाय से दूर से नहीं बुलाते। वह तो अचानक हमारे हृदय में जग जाती है और प्रगति के लम्बे रास्ते में जोत देती है। फिर भी हम उस स्पर्धा को कम ही समझते हैं। हम तो उसके स्थान पर अपनी आवश्यकता और कर्तव्य आदि की बातें बनाया करते हैं।

देखिये, हमारे अन्तर्यामी प्रभु हमारे अन्दर ही छिपकर स्पर्धा की हल्की छड़ी से हमें आर्थिक प्रगति के खेत में कब से जोते हुए हैं और हम हैं कि माने बैठे हैं कि जो कुछ करता हूँ वह स्वयम् मैं करता हूँ। दयामय प्रभु भी हमारी मान्यता पर आपत्ति नहीं करते और हमारे सारे कृत्यों का लेखा-जोखा रखते हुए फल देते रहते हैं। उन्हें ऐसा करने में आनन्द आता है जबकि हमें अपनी बार-बार की भूलों का दुःखमय दण्ड भोगते रहना पड़ता है।

यहाँ कोई मनोविज्ञानी कहेगा कि स्पर्धा के पीछे वासना काम करती है। यहाँ परमात्मा नामक किसी तत्त्व का कोई काम नहीं है। ठीक है, वासना से स्पर्धा होती है। प्रबुद्ध वासना से स्पर्धा होती है, सुप्त से नहीं। वासना को जगाकर उससे स्पर्धा उत्पन्न कर उसे चिर-काल तक जारी रखते हुए प्रगति के उपयुक्त उपायों से जोड़ते रहना वास्तव में चेतन के पूर्व कर्मों का व्यापार है। कर्म अचेतन है इससे उनके अधीन सारे क्रिया कलापका नियामक एक चेतन सत्ता स्वीकारकी जाती है। उसे ही परमात्मा कहते हैं। मनोविज्ञान में अभी कर्म-वासना, चेतन तत्त्व, नियामक तत्त्व आदि आधार भूत विषय नहीं आ सके हैं इससे यह आगे चलकर दिङ्मूढ़ हो जाता है। समता की स्थिति में भी समाज में व्याप्त दुर्वार विषमताओं को देखकर यह मानना पड़ता है कि चेतन की किसी दिशा में प्रगति या दुर्गति उसके प्राचीन कर्मों से परमात्मा के नित्य सङ्कल्प के अधीन हुआ करती है। हृदय में शुभा-शुभ भावों का उदय और निरोध परमात्मा के उन असाधारण प्रयत्नों से हुआ करता है जो चेतन के पूर्वकर्मानुसारी होते हैं। इसी तथ्य के अनुसार गीता में भगवान की उक्ति है कि—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
(गीता १५।१५)

'बहुत से दार्शनिकों ने जीव को ही ईश्वर माना है। अपनी मान्यता पर उन्होंने वेदों को भी साक्षी बनाने का प्रयत्न किया है किन्तु उसकी पूज्यता पर उनका ध्यान नहीं गया। दूसरों ने जीव से अतिरिक्त ईश्वर आदि कोई चेतन सत्ता स्वीकार नहीं की है। अर्जित गुणों के आधार पर कई ऊँचे स्तर मानकर केवल नाम से पूजा का विधान किया है। बौद्धों ने जीव को भी झुठला दिया है। उपलब्ध तत्त्वों को झुठलाते रहना ही उनकी पूजा है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि जीव ईश्वर की मूर्ति है। जिसे ईश्वर देखना हो वह अपने आप को देख ले, ईश्वर की सत्ता झुठलाने पर भी अपने ऊपर सदा सक्रिय पूर्व कर्मों को हम नहीं झुठला सकते। पूर्व मीमांसकों ने कर्मों को ही ईश्वर का दर्जा दिया है। वे अलग ईश्वर नहीं मानते। पूर्व कर्मों का प्रभुत्व प्रत्येक चेतन पर दृष्ट तुल्य है। कर्मफलों का आदि अन्त कुछ ऐसा होता है कि उन्हें देखते हुए उनका नियामक एक स्वतन्त्र परम चेतन मानना पड़ता है। वेद उसका विस्तृत वर्णन करते हैं। इससे कर्मों की अधीनता और ईश्वर की अधीनता एक ही बात है।

हमारी स्वतन्त्रता लम्बी रस्सी से बन्धे पशु से अधिक नहीं है। हम तत्काल फल के लिये जो भी कुछ कर्म करते हैं उसका एक स्थायी सूक्ष्म रूप बनकर हमारे साथ जुट जाता है। उसका फल बहुत गुना होकर बहुत देर से आगामी जन्मों में मिलना शुरू होता है। अभी हम अपने ताजा कर्मों से जो कुछ पा रहे हैं वह वास्तव में तथोक्त प्राचीन कर्मों का ही फल है। इसी से तात्कालिक कर्मों के फलों का अनुपात कमबेशी रहता है। पाशुपत दर्शन में जीवों को पशु कहा गया है और उनके पूर्व कर्मों को पाश। पाश से छुड़ाने वाले देवता को पशुपति महाकाल और शिव कहा गया है। वही वेदोक्त परमात्मा विष्णु हैं।

इस प्रकार हम चाहे ईश्वर से देखें जीवात्मा की अपनी सत्ता

अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए परम तत्त्व परमात्मा की अपेक्षा जाने अनजाने बनी ही रहती है। ऐसी स्थिति में हम जो समर्पण का भाव बनाते हैं उसमें अपने को परमात्मा को नया नहीं सौंपते बल्कि जो वास्तव समर्पणकी स्थिति है उसे केवल स्वीकार करते हैं। किसी रमणी के सुन्दर केशकलाप के सुन्दर सन्निवेश को यदि हम सुन्दर मान लें तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि उसमें हमने केश जोड़े हैं। केश तो उसमें जुड़े हैं ही। आवश्यकता है उसे एकबार निहार लेने की। इससे एक सन्तुष्टि होती है। वह सन्तुष्टि तब भी होती है जब उससे हमारी कोई पहचान न हो। जब सारे जीव सदा से समर्पित ही हैं तो अपने को समर्पित मान लेने में हानि तो कुछ नहीं है, लाभ बहुत हैं। इससे परमार्थ पथ के सारे सोपान सुलभ हो जाते हैं। यह एक महान् शास्त्र है जो सतत सदाचार संयम और श्रद्धा से समझ में आता है। जैसे क्रीडा परायण शिशुओं को उपदेश से शान्त बैठाना सम्भव नहीं है वैसे ही आचार हीन लोगों के मन मस्तिष्क में प्रामाणिक कल्याणमय तथ्य स्थापित करना कठिन है।

हम जो निजी अनुभव से अपने आपको पराधीनता के विरुद्ध स्वाधीन रूप में पाते हैं वह हमारा सर्वोपरि महान् वैभव है। यही आत्म कल्याण का सही माध्यम है। हम चाहे अनादि काल से कर्मों से बन्धे हों पर पराधीन मानने को तयार नहीं होते। इसीसे मानना पड़ता है कि कर्म हमें सदा-सदा के लिये नहीं बांध सकते, हम छूटेंगे। छूटने की ही दिशा में यह पहला और आखिरी कदम है समर्पण का भाव। इस विषय की पूर्ण जानकरी सात्त्विक-चित्तों को शरणागति विद्या से सदाचार्य के माध्यम से होती है।

मूर्ति पूजा—

यहाँ इतना ही ध्यान में रखना है कि भले हम अपनी प्रज्ञा से अपने को ईश्वराधीन नहीं समझ पाते और यह भी नहीं समझते कि हम की कोई मूर्ति है और हम में ईश्वर की पूजा होती है किन्तु वेदादि

प्रमाणभूत विद्याओं से यह तथ्य समझ में आ जाता है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक देख रहे हैं कि सूर्य से करोड़ गुनी क्षमता और आयतन वाले अनन्त तारापिण्ड आकाश में चमक रहे हैं। हमारे वेदानुसारी शास्त्र सूर्य-मण्डल में परमात्मा के दर्शन और पूजन का विधान करते हैं। सूर्यनारायण स्वयं चमकते हैं, दिखाई पड़ते हैं, केवल दूसरों को। वे स्वयम् अपने आपको नहीं समझते, और यह चेतन तत्त्व अनादि काल से निरन्तर अपने आपको देख रहा है। इसी से यह चेतन है। अपने आपको स्वयं न समझने वाला जड़ कहलाता है। यह स्वयं समझा जा सकता है कि अनन्त ब्रह्माण्डनायक विश्वमूर्ति परम चेतन परमात्मा को अपनी गगनादि जड़-मूर्तियों की अपेक्षा चेतन तत्त्व और पराप्रकृति कहलाने वाली मूर्तियाँ बहुत अधिक प्यारी हैं। देखिये भगवद्गीता अ० ७ श्लो० सं० ५।

जो लोग मूर्ति पूजा पसन्द नहीं करते वे चेतन मूर्तियों की भी पूजा नहीं करेंगे किन्तु अपनी भाषा में परस्पर अभिवादन करते देखे जाते हैं। वास्तव में मूर्तिपूजा हर व्यक्ति करता है। किसी श्रेष्ठ व्यक्ति का सम्मान मूर्तिपूजा ही तो है। वहाँ जड़ की ही पूजा होती है। चेतन तत्त्व तो उसमें छिपा केवल देखता है। पाषाण प्रतिमा और मांस प्रतिमा में जो लोग अन्तर पाते हैं उन्हें कृत्रिम रोबोल्ट मानव और प्राकृतिक मानव में भी अन्तर और तारतम्य देखना चाहिए। रोबोल्ट और उसके संचालन की विशेपताओं और सम्बन्धों से हम जीव और ईश्वर के बीच के बहुत से रहस्यों को अनायास समझ सकते हैं। रोबोल्ट जैसे यन्त्रों की सृष्टि करके मानव एक तरह से पाषाणपूजा ही करने लगा है।

आन्तर और बाह्य पूजा—

लौकिक वैभव की प्राप्ति रक्षा और उत्तम उपयोग के लिये, जनप्रिय होने के लिये, अपना लोक-परलोक सुधारने के लिये एवम् अपने आत्यन्तिक कल्याण के लिये आत्म-संस्कार की आवश्यकता सभी

लोग समझते हैं। ऊपर उक्त आत्मसंस्कार को ही ईश्वर की पूजा कहा गया है। आत्मसंस्कार भगवान् की प्रथम और चरम पूजा है। प्रस्तुत निबन्ध में यह प्रेरणा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वरूप समझने का प्रयत्न करता रहे। आँखों पर पलकों का खुलना और बन्द होना इस बात का संकेत है कि हमारी बाह्य दृष्टि आन्तर दृष्टि का विकास करे। दृश्यमान अनन्त जगत् परमात्मा के नित्य सत्य सङ्कल्प का स्फुरण है। जीव का भी एक सङ्कल्पमय जगत् होता है। वह उसके अन्तःकरण में स्फुरित होता है। उसे ही वह जीवन भर बाहर ढूँढ़ता रहता है। उसके प्राचीन कर्म उसके सङ्कल्प में ही बदलाव लाते रहते हैं इससे बाहर ढूँढ़ने का क्रम जारी रहता है। यही जीव का संसरण या संसार है। यही त्रिविध दुःखों का कारण है। बचाव के लिये अपने आपको समझना सरल उपाय है। भगवान् ने गीता के तेरहवें अध्याय में अमानित्व आदि बीस उपाय अपने आपको समझने के लिये कृपावश बतलाये हैं। वे सब उपाय संस्कारात्मक हैं। उन्हें हम अर्जित करते रहें, यही सदा चलने वाली भगवान् की उत्कृष्ट पूजा है। इससे भ्रान्ति-वश होने वाले बहुत से अनर्थों से बचाव होता है। अपने प्रति करने योग्य कृत्यों पर ध्यान बढ़ता है। प्रमाद में कमी भी आती है। इस कार्य में अनुभवी शास्त्रज्ञ आचार्यों की कृपापूर्ण सहायता की विशेष आव-श्यकता होती है। अपने और परमात्मा के सम्बन्ध में यथार्थ अनुभव केवल भगवत्कृपा से कुछ संस्कारी लोगों को होता है। वे ही परमात्मा का वैभव और ऐश्वर्य न भूलते हुए, सतत श्रद्धा के वशीभूत हुए किसी एक स्थान पर उनकी सेवा पूजा किया करते हैं। उन्हें अपने स्वरूप के सम्बन्ध में या परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में और अपने साथ परमात्मा के सम्बन्ध के बारे में कभी कोई सन्देह नहीं होता। क्योंकि वे बहुत कुछ प्रत्यक्ष-सा अनुभव कर चुके होते हैं।

भक्ति के रक्षक भगवान्—

इसमें एक ऐतिहासिक घटना ध्यान में रखने योग्य है। आज

से नौ सौ वर्ष पूर्व हुए आचार्य रामानुज को भगवान् के प्रति सहज अनुराग बाल्यकाल से ही था। वे निर्गुणवाद पसन्द नहीं करते थे। वे मानते थे कि गुणों के अभाव में हम उस तत्त्व को भगवान् या श्रद्धा-योग्य या ध्येय पूज्य कैसे मान सकते हैं जिसे वेदादि शास्त्र जगत् का कारण मानते हैं। परमात्मा तो वह तत्त्व हो सकता है जिसमें जीव के कल्याण के लिये अपेक्षित सारे गुण सदा से परिपूर्ण रूप से विद्यमान हों। इसीसे हम उनकी सेवा-पूजा करते हैं।

संयोगवश कहें या भगवान् के कल्याणमय सङ्कल्प से, उन्हें बाल्यावस्था में विद्या गुरु के रूप में यादवप्रकाश नामक एक अद्वैतवादी आचार्य मिले। निर्गुणवाद अद्वैतवाद का पोषक है। उस समय आचार्य रामानुज अपनी किशोर अवस्था पार कर रहे थे। उस अवस्था में उन्हें व्याकरण आदि सामान्य शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त हो चुका था। एकबार वे उक्त आचार्य की श्रद्धापूर्वक चरणसेवा करते हुए उपनिषद् ग्रन्थों का भाव समझ रहे थे। एक सन्दर्भ में भगवान् के सुन्दर नेत्रों की तुलना सुविकसित कमल पुष्प से की गई है जिसका अर्थ श्रद्धा के अभाव में उक्त आचार्य की समझ में नहीं आया और कोई ऐसा निन्दित अर्थ कर बैठे जिससे आचार्य रामानुज को बहुत कष्ट हुआ, आचार्यनिष्ठा के कारण वे कुछ बोले तो नहीं किन्तु कष्ट के गर्म आँसू उनके नेत्रों से निकलकर आचार्य के पैरों पर पड़े जिससे वे चौंक गये और कष्ट का कारण पूछा तब आचार्य रामानुज ने स्पष्ट कहा कि भगवान् की महिमा के विरुद्ध ऐसा निन्दित अर्थ उपनिषद् का हो ही नहीं सकता। इस पर वे बोले कि तुम समझते हो तो उचित अर्थ बतलाओ, तब आचार्य रामानुज ने भाषा की मर्यादा प्रदर्शित करते हुए उपर्युक्त सुविकसित कमलतुल्य नेत्र वाला अर्थ सुना दिया। इससे उनके अज्ञान-मय स्वाभिमान को ठेस लगी और अपने इस शिष्य की अप्रतिहत प्रतिभा के द्वारा आगे होने वाले निर्गुणवाद के सफाया की कल्पना से उन्हें भारी अनिष्ट का भय हुआ। इससे मोहवश एक गलत निर्णय ले बैठे।

उन्होंने छल से एकान्त वन में ले जाकर अपने उक्त प्रतिभाशाली शिष्य की हत्या करने की योजना बनायी और कतिपय अन्य शिष्यों से गुप्त मन्त्रणा करके उन्हें साथ लेकर किसी तीर्थयात्रा के बहाने जंगली रास्ते से चल पड़े। भगवान् अपने भक्तों का साथ कभी नहीं छोड़ते, सदा उनके पीछे-पीछे चलते हैं। बहुत दूर निर्जन वन में निकल चुकने पर जब अपराध का अवसर निकट हुआ तब उनके एक आत्मीय ने आचार्य की पाप योजना सूचित कर रात्रि में भाग जाने की सलाह दी। तब उनसे अलग होकर वे अकेले भटकते हुए जंगलों में चलने लगे। यादवप्रकाश व्याज की यात्रा पूरी करके लौटे।

निर्गुण परमात्मा का सौहार्दगुण—

इधर आचार्य रामानुज को शबरदम्पति के रूप में काञ्ची के भगवान् वरदराज मिले। आचार्य काञ्ची ही जाना चाहते थे। वहीं उनका घर था, वहीं से चले थे। मार्ग पूछने पर उक्त दम्पती ने कहा कि हम भी वहीं जारहे हैं, हम रास्ता जानते हैं, आप हमारे साथ चलें, वे उनके साथ हो लिये। उस समय कपट का व्यवधान रहते हुए भी उन दोनों पक्षों में जो उल्लास रहा होगा वह किसी सहृदय की ही समझ में आ सकता है। काञ्ची के करीब पहुँचने पर उक्त दम्पति ने कहा कि हम अब बहुत निकट आ चुके हैं। रास्ते में एक कम गहराई वाला कुआँ मिला। उसे देख शबरी ने प्यास जतायी। उनके पास लोटा डोरी नहीं थी। नीचे उतरकर अञ्जलि से ही जल पीना सम्भव था। पति-पत्नी को उतरने का साहस नहीं हुआ। तब बालक रामानुज स्वयम् कुएँ में उतरे और अपनी अञ्जलि से पानी ऊपर दे देकर दोनों को पिलाया। दोनों ने सन्तुष्टि जतायी किन्तु जब बालक रामानुज ऊपर आये तो दोनों सहसा गायब थे।

इस चमत्कार से बालक रामानुज बहुत प्रभावित हुए। भगवान् की इतनी आत्मीयता और संरक्षण पाकर वे अपनेको और अपने विचारों को हृदय से सराहने लगे, कुछ ही देर बाद वे काञ्ची पहुँचे। वहीं

भगवान् वरदराज के दर्शन के बाद उन्हें समझ में आया कि भगवान् मुझसे जल की सेवा लेना चाहते हैं, इसी से थोड़ा जल शबर दम्पति के रूप से लेकर अन्तर्हित हो गये। तब से बहुत वर्षों तक वे उसी कुएँ का एक घड़ा स्वादिष्ट जल भगवान् वरदराज की सेवा में पहुंचाते रहे। वह कुआँ अभी भी सुरक्षित है। काञ्ची तीर्थयात्री उस कुएँ का दर्शन बड़ी उत्कण्ठा से करते हैं। आगे कई ऐसे प्रेरक प्रसंग हुए जिनसे प्रभावित होकर आचार्य यादवप्रकाश अपने पूर्वशिष्य शेषावतार भगवान् रामानुज के श्रद्धावान् शिष्य बन गये।

सहृदय पाषाण—

काञ्ची के भगवान् वरदराज प्रस्तर विग्रह हैं। अति प्राचीन काल से वे उसी रूप में विराजमान हैं। पत्थर का हृदय नहीं होता। उसमें दया और प्रेम की तो कल्पना ही नहीं हो सकती। भगवान् कभी नहीं सोचते कि पत्थर को प्रणाम करने और न करने में क्या अन्तर होता है। अन्तर तो व्यक्तियों के सङ्कल्प पर निर्भर होता है। आचार्य रामानुज को यह समझाने वाला कोई नहीं मिला कि पानी पहुँचाने की मजदूरी नहीं मिलेगी। वे देखकर भी यह नहीं समझ सके कि भगवान् वरदराज पत्थर हैं। वे तो उनके अनन्य भक्त हुए क्योंकि उन्हें पता था कि इसी प्रस्तर विग्रह से निकलकर वे शबर दम्पति भी बन जाते हैं। वे एकान्त में भक्तों से बात भी करते हैं। उन्हें शास्त्र-रहस्य समझाते हैं। उनके एक गुरु काञ्चीपूर्ण स्वामी ने भगवान् वरदराज से रात में पूछकर ही आचार्य रामानुज को शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण तीन प्रश्नों के उत्तर दिये थे।

निर्गुणवादी आचार्यगण भी भगवान् वरदराज के निष्ठावान् भक्त हुए हैं। अप्पयदीक्षित विरचित वरदराज-स्तव का एक-एक श्लोक बहुमूल्य है। दक्षिण भारत में पत्थरों ने चिरकाल से महान् दार्शनिकों तार्किकों और विषयव्यसनियों को भी अपनी ओर खींचकर अपनी गुरुत्वाकर्षण शक्ति की धाक जमा रखी है। इस सम्बन्ध में संगृहीत

बहुत से ऐतिहासिक आख्यान मननीय हैं। विश्व के सारे रूप परमात्मा के हैं। प्रत्येक पत्थर परमात्मा है। फिर भी वह पत्थर विशेष सम्मान पाता है जो कभी भी किसी को भी भगवदनुभव का निमित्त बना हो। जैसे मक्का का प्राचीन शिवलिङ्ग जो आज विश्व के मुसलमानों का अल्लाह बना हुआ है। आत्मकल्याण के वास्तव इच्छुक सभी जन उन स्थानों और देवालयों में जाकर कुछ पत्र-पुष्प के साथ अपना शिर अवश्य झुकाते हैं जहाँ भगवान् की कृपा किसी भी व्यक्ति को कभी भी अनायास बहुत ऊपर उठा चुकी होती है। ऐसा करने से होने वाले फल का आकलन कठिन है किन्तु ऐसा न करना भगवान् की उपेक्षामात्र नहीं बल्कि अपने आपकी घोर उपेक्षा प्रमाणित करता है। इससे आन्तर पूजा को बल देने के लिए बाह्य पूजा भी अवश्य करनी चाहिए। इसमें परामर्श लेना चाहिए घड़ी के पेण्डुलम से, अपने उन्मेषनिमेष, श्वास निःश्वास और दिवारात्रि के क्रमों से और अपने वाम दक्षिण करों के असाधारण दायित्वों से।

समर्पणः सबसे बड़ा चौराहा—

लोक में समर्पण सभी झगड़ों का अन्त होता है। कोई भी पक्ष जब तक मनमें कुछ बान्धे रहता है तब तक झगड़े की सम्भावना रहती है। सर्वत्याग के बाद झगड़े की भूमि नहीं बचती। अध्यात्म जगत् में भी समर्पण एक ऐसा विन्दु है जहाँ सभी दार्शनिक बरंवश इकट्ठे हो जाते हैं। वहाँ उनका विवाद ठहर नहीं पाता। बौद्धों की दृष्टि में आत्मा की कल्पना सबसे बड़ा खतरा है। वे अहम् प्रतीति को निर्विषय घोषित करते हैं। समर्पणवादी जो वस्तुतः परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पित होता है वह मानता है कि अहम् प्रतीति के विषय के रूप में जो भी तत्त्व स्फुरित होता है वह केवल उस परमात्मा की ही स्फूर्ति है जो सूर्य आदि अगणित तेजः पिण्डों के रूप में लक्षित हो रहा है। वह अपने अहम् की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। न तो वह अहम् के

लिए कोई प्रमाण ढूंढ़ता है न उसे झुठलाने के लिए कोई असाधारण,

तर्क की तलाश करता है। वह भूल ही जाता है कि मैं कुछ हूँ। इस विन्दु पर उसका बौद्धों और मायावादियों से सामञ्जस्य हो जाता है। आगे वह अपने अहम् को भौतिक पिण्डों के इदम् के रूप में स्वीकार करता हुआ उसके प्रति तटस्थ हो जाता है। इसके बाद जैसे शिष्ट पुरुषों के सुझाव से विश्व के सारे दृश्यों को परमात्मा की श्रद्धेय मूर्ति के रूप में स्वीकार करता है वैसे ही अपने अहम् को भी परमात्मा की सदा सेव्य श्रद्धाऽऽस्पद मूर्ति के रूप में ही स्वीकार करता है। तब उसका अपना 'मैं' समाप्त हो जाता है। इससे 'मेरा' भी कुछ नहीं रह जाता।

समर्पित व्यक्ति विश्व में कहीं भी अपनी अब्रह्म दृष्टि बनने नहीं देता। वह जानता है कि भेद दृष्टि भय का स्थान है। इसीसे वह अपने को भी ब्रह्म ही मानता है। वह अपने को ब्रह्म इसलिए नहीं मानता कि समाज मुझे नारायण मानकर सम्मान दे, वह तो ब्रह्म की पूर्ण व्याप्ति को ध्यान में रखकर जैसे सूर्य को नारायण समझता है, नमन करता है वैसे ही अपने को भी समझता और मन ही मन नमन करता है। इसके वाद भी उसको प्रामाणिक तत्त्वत्रय दृष्टि वैसे ही बनी रह जाती है जैसे दिन-रात, पूरब-पश्चिम, अणु सुमेरु दृष्टि रह जाती है। वह तो प्रामाणिक सभी तत्त्वों को परमात्मारूपी सूत्र में गुंथे मणियों की भाँति परस्पर भिन्न भी मानता ही है। वह वास्तव भेदों के अन्तर्गत वास्तव अभेद को देखता हुआ भेदों की उपेक्षा करके अभेद में निष्ठा रखता है। यही उसकी कल्याणमयी भावना होती है। जबकि संसारी जीव अभेद को केवल दम्भभाव से बोलते हैं और भेदों पर आस्था रखकर अपना संसार सुरक्षित करते हैं।

यद्यपि समर्पित व्यक्ति मायावादियों की पंक्ति में बैठकर प्रामाणिक तत्त्वों को बौद्ध भावना से झुठलाने का प्रयास नहीं करता फिर भी 'सर्वं खल्विदम्ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'सोऽहम्' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि उनके विशेष अभिमत श्रौतवाक्यों का, जो उनकी भाषा में

महावाक्य हैं, रसास्वादन उनसे आगे रहकर करता है। यह जानता है कि 'रज्जुः सर्पः' 'स्थाणुः प्रेतः' जैसे वाक्यों से 'पिता गुरुः' 'मणिर्दीपः' जैसे वाक्यों में बड़ी भिन्नता है। वह उत्तर वाक्यों की शुद्ध श्रेणी में ही उक्त श्रुति वाक्यों को देखता है। इससे उसकी भगवद्भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाती है। मायावादियों को उनके इन महावाक्यों से जो लाभ मिलता है उसे उनके श्रद्धावान् शिष्य ही समझते हैं।

बौद्धों और मायावादियों के सारे दार्शनिक व्यायाम संसार कारामध्यस्तम्भभूत 'अहम्' के विनाश के लिए है। बौद्ध मनीषी इसके लिये सारी भावनाओं का उच्छेद चाहते हैं। वे मानते हैं कि सारी भावनाओं का उच्छेद होने पर ही 'अहम्' का उच्छेद सम्भव है। मायावादियों ने बौद्धों के उक्त श्रद्धाऽऽस्पद उद्देश्य की पूजा के लिए श्रुति सूक्तों को उसमें साक्षी बनाने का प्रयास किया। प्रयास स्तुत्य था किन्तु उनसे यह भूल हो गयी कि असत् तत्त्वों का त्याग कराने की शाश्वत श्रौत सरणियों के स्थान पर अर्वाचीन भ्रामक सौगत तर्कों का सहारा ले लिया। फल स्वरूप वे भी बौद्धों की भांति सत्ता त्रयवाद और अनिर्वचनीयतावाद पर श्रद्धा रखने लगे और उन दुर्वादों का बोझ श्रुतियों पर लादकर उन्हें सभी प्रमाणों के विरोध में खड़ा करके समाज में उपहासास्पद बना दिया।

समर्पण भाव की पूर्ति श्रौत शाश्वत तत्त्वनिष्ठा पर आधारित होती है। वह केवल भावुकता पर निर्भर नहीं होती। इससे समर्पित व्यक्ति विश्व के सारे मनीषियों का शीर्ष मार्गदर्शक होता है। मार्गदर्शक आस्था का ही केन्द्र होता है। वहां विरोधाभास नहीं होता। प्रज्ञा के सर्वाधिक उर्वर क्षेत्र भारत के इतिहास में ऐसे अनेक महापुरुष हो गये हैं जो अपने समय में अनेक विरोधी दार्शनिकों के एकमात्र आस्था के केन्द्र रहे हैं। उनके विरुद्ध कोई सोचता नहीं था।

विश्व के सभी दार्शनिक कुछ न कुछ त्याग की संस्तुति करते

हैं। अपनी संस्तुतियों के सन्दर्भ में उन्हें बहुत बार प्रमाणों का मर्दन भी करना पड़ता है। हमारी श्रुतियाँ त्याग के स्थान पर समर्पण का सुझाव देती हैं। वह किसी भी प्रमाण का विरोध नहीं करतीं। वह कहती हैं कि त्यक्त अर्थों को केले के छिलके की भाँति रोड पर किसी के फिसलने के लिए न फेंको। समझो कि उन पर गौओं का अधिकार है। उन्हें ही दे दो, यही समर्पण है। श्रुतियाँ ही गौ का रूप लेती हैं। उनसे पूछो कि त्यक्त अर्थ कहाँ रहते हैं। वह बतलायें कि—

ईशा वास्यम् इदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥

त्यक्त और अत्यक्त सभी अर्थों की सारी अवस्थाओं के निर्वाहक धारक और भोक्ता एकमात्र परमात्मा है। जो निरतिशय प्रिय सतत अनुभव रूपी भजन के योग्य हैं। यह संकेत 'भुञ्जीथाः' पद से मिलता है। किसी का भजन उसके प्रति स्वार्थभाव रखते हुए नहीं किया जा सकता। जिस ब्राह्मण को हम पीर (प्रिय श्रेष्ठ या पूज्य) मानते हों उसे बबर्ची भिस्ती खर नहीं मान सकते। इसी भाँति जब तक हम परमात्मा की वस्तुओं में, उनके विशेष ममताऽऽस्पद अर्थों में ममता बाँधे हैं तब तक उनके भजन का अवसर नहीं बनता। उनके भजन सेवन प्रियतम अनुभव से पहले उनके स्वत्वों पर अज्ञानवश जमाये अपने कब्जे को छोड़ना होगा। हमारे कल्पित कब्जे से उनके स्वत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु हमारे भजन की योग्यता बाधित रहती है। यह श्रुति कहती है कि ममताऽऽस्पद वस्तुओं का वासना सहित त्याग करके उस परित्यक्त अर्थ समूह के साथ ही उस विश्व व्यापी परमात्मा के दिव्य गुणशील स्वभाव सम्बन्धों के निरतिशय प्रिय अनुभव रूपी भक्तिरस का आस्वादन किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में जबकि पूर्णत्याग से पहले भजन का अवसर नहीं बनता तो किसी भी पराये धन के प्रति स्पृहा होने का अवसर स्वतः समाप्त हो जाता है। यही बात 'मागृधः' से सूचित होती है। 'त्यक्तेन' में तृतीया से समर्पण सूचित होता है।

सामान्य रूप से यहाँ कहे गये समर्पण का पर्यवसान आत्म समर्पण में होता है। आत्मा का समर्पण ही वास्तव कल्याण हेतु समर्पण है। यह समर्पण श्रेष्ठ ज्ञानियों के माध्यय से सुही होता है। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' इत्यादि भगवद्गीता वचन से सूचित होता है कि पुनः-पुनः प्रश्न प्रयोजक स्थायी जिज्ञासा ही तत्त्वज्ञान का दृढ़ आधार है। वह होने पर ही असाधारण पुण्य से उपलब्ध सत्पुरुषों के वचन हृदयङ्गम होते हैं। तभी समर्पण पूर्ण हो पाता है। केवल यह कहते रहना कि मैं भगवान् के आश्रित हूँ, समर्पण नहीं है। समर्पण तब पूरा होता है जबकि चेतन का अपना कोई भी छोटा से छोटा या महान् से महान् भी उद्देश्य लक्ष्य कामना या अपेक्षा का भाव नहीं रह जाता है। फिर भी वह अकर्मण्य नहीं होता। वह तो उल्लासमय जीवन व्यतीत करता हुआ सतत सक्रिय रहता है। असाधारण गुणानुभव-जनित निरतिशय प्रीति के पात्र परमात्मा को सर्वत्र प्रत्यक्ष-सा देखता हुआ वह उनके विविध रूपों के प्रति श्रद्धा और सम्भ्रम से ओत-प्रोत रहता हुआ उनके प्रति अति प्रिय कृत्यों से विरत कैसे हो सकता है। वे कृत्य ही उसके परमपुरुषार्थ होते हैं। उन कृत्यों के बिना वह मोक्ष-नाम की कोई अच्छी अवस्था नहीं समझता। वह मोक्ष की चिन्ता नहीं करता। वह चिन्ता उसके लिए परमात्मा को होती होगी। वह तो मुक्त अवस्था में ही जीता है। मुक्तों के देश वैकुण्ठ साकेत गोलोक आदि में जाने पर जो कुछ अनुभव होता होगा वह उसे इसी लोक में होता है। वहाँ के कर्तव्य वह यहीं करता है। उसे यम की चिन्ता नहीं होती। उसकी वासना ऐसी हो चुकी होती है कि यदि किसी कर्म-शेष से यमदूत आ भी जायें तो वे उसे विष्णुदूत के रूप में ही मिलेंगे। उसे वे यदि लेजाकर नरक में डाल दें तो वह नरक भी उसे वैकुण्ठ का ही आनन्द देगा। दुःखों के मूल आधार अहङ्कार ममकार समाप्त हो चुकने के कारण उसे दुःख वैसे ही नहीं होते जैसे होलिका के गोद में बैठे भक्त प्रह्लाद को अग्नि ज्वाला भी सुखमय गोद ही मालुम हुई।

समर्पण की पूर्णता में वासना नहीं रह जाती। तब उसकी मुक्ति के मार्ग में यदि कोई प्रतिबन्ध रहता होगा तो उसे भगवान् ही जान सकते और उसका निवारण कर सकते हैं। समर्पण से साधक का अपना सारा दायित्व समाप्त हो चुका होता है। समर्पण की पूर्ति के बाद यदि अनन्त काल तक भगवान् इसी संसार में रखें तो उसे कोई उद्वेग नहीं होता। क्योंकि उसे अपने प्रति कुछ भी कर्तव्य या प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। साधक को ऐसी अवस्था की प्राप्ति प्रत्येक साधनपथ में वाञ्छित होती है इससे यहाँ सबका मतैक्य हो जाता है। इससे यह अवस्था जो वास्तव में पूर्ण समर्पण का ही फल है, दर्शन के पथिकों का वह बड़ा चौराहा है जहाँ सारे मतभेद भूलकर इकट्ठा होना ही है।

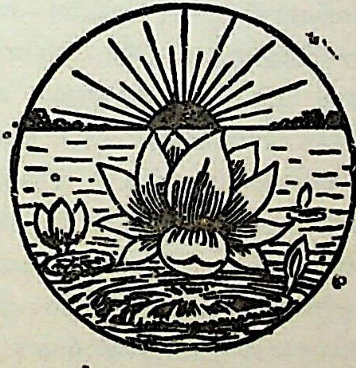
अरुण उदय हो गया अगर मार्तण्ड छिप गया।
घन कुहरों में, तो भी तम का कहर छूट गया॥
अब रति झींगुर शोर, मार चोरों का साहस।
हो न सकेगा, हंस से सेवित होगा मानस॥

उक्त श्रुति की संस्कृत व्याख्या—

संस्कृतविदुषाम्प्रीत्यै श्रुत्यर्थः सम्प्रकाश्यते भूत्यै। क्षिप्तानर्थः स्वार्थः सात्त्विकहरिभक्तिशुद्धचित्तानाम्। जगत्याम् परिणामैकस्वभावे संसारे, यत् किम् च यद् यथावद्विदितं जिज्ञासितञ्च, जगत् परिणममानं सद् विविधमनुभूयमानञ्च, परिणामोऽनुभवोऽपि जगदित्यत्र गमेरर्थः। तद् इदम् बुद्ध्यारूढं वस्तु जातम्, ईशा सकलं जडजंगमं जगदीशानेन परमेश्वरेण, ईश् ऐश्वर्ये, क्विप्, वास्यम् सर्वावस्थास्वव-स्थापनीयं वसनादिवद् धार्यम् भोग्यञ्च, वस निवासे वस आच्छादने, त्यक्तेन श्रद्धेयस्य, भजनीयस्य, स्वामिनः, सकलशुभाशुभफलवितरण तत्परस्य परमात्मनोऽनादितात्त्विकममताऽऽस्पदवस्तुतया विनिवारिता-त्मस्पृहाविषयेण, तेन उक्तेन वस्तुजातेन सह विशिष्टम् प्रस्तुतं निगमा-गमसात्त्विकबुद्धिविषयम् ईशम् (प्रसङ्गाद् अध्याहारः) भुञ्जीथाः रसमयसततानुभवविषयं कुरुष्व, सकलदृष्टविशिष्टमेव परमात्मानं श्रद्धया

सेवस्वेत्यर्थः। एतत्सेवनमेवात्मनः पालनम् अभ्यवहारश्च धात्वर्थद्वयं श्रुत्यभिप्रेतम्। कस्यस्वित् ममताऽऽस्पदम् अनास्पदं वा, धनम् भोग-साधनम्, मा गृधः माऽभिकांक्षीः। वाह्यविषयस्पृहायाम् भगवदनुभव-तिरोधानसङ्कटभयाद् बहिर्मुखत्वं चेतसः सदैव निवारयेति तात्पर्यम्। अत्र भुञ्जीथा इति न लौकिक शब्दादिविषयानुभवानुज्ञा ग्राह्या। इषे त्वेत्यादिना कृत्स्नेन कर्मकाण्डेन 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति भगवदुक्त्या निरतिशयप्रियभगवत एव प्रस्तुततयाऽत्र यजुः संहिताऽन्ते तत्रैवानुबुभूषायाः स्वारसिकतया क्षुद्रविषयसेवनानुज्ञाया अप्रसंगात्। अत्र वास्यमित्यनेन च वसनादिवद्धार्यम् भोग्यम् इत्यर्थ एव मुख्यं तात्पर्यमवधेयम्। तेनैव त्यागविधानौचित्यात् त्यक्तेनेति सहार्थतृतीया-याश्च तेनैवोपपत्तेः, त्यक्तस्य करणत्वानुपपत्तेश्च।

सर्वाः श्रुतयो नृहरिं सर्वत्रासादयन्ति कर्तव्ये।
सर्वान्तर्यामित्वात् शिरसा धृत्वोपनिषदिति ख्याताः॥



॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ सत्पथमार्तण्डः ॥

[सान्वयव्याख्याभाषानुवादविशदः]

यमनवगत्यात्मानं
जगतां स्वस्य च कुमार्गभृज्जन्तुः ।
दुःखी मुह्यन् समये
यत्पदतो मुच्यते स नः स्फुरतात् ॥ १ ॥

अन्वयः—जगतां स्वस्य च आत्मानं यम् अनवगत्य कुमार्गभृत मुह्यन दुःखी जन्तुः समये यत्पदतः मुच्यते स नः स्फुरतात् ।

व्याख्या—अधीतिनां निर्विघ्नप्रतिपत्तिस्थेम्ने वस्तुनिर्देशभूतमाशीर्वादात्मकम्मङ्गलं तनोति यमनवगत्येत्यादिना । जगतां सर्वलोकानां, स्वस्य अहम्बुद्धिविषयस्य आत्मनश्च, आत्मानम् अतति सततं गच्छंति स्वाश्रितेषु सर्वेषु विक्रियमाणेष्वपि स्वरूपतो गुणतश्चाविकृत एवावतिष्ठत इत्यात्मा तं, यम्भगवन्तम्, अनवगत्य स्वकीयसकलहितहेतुत्वेनाविदित्वा, कुमार्गभृत् हितविरूपोपायावलम्बी, अतएव मुह्यन् उपायोपेयविषयेष्वपेक्षितविवेकरहितः, अतएव दुःखी त्रिविधदुःखग्रामविशिष्टः, जन्तुः मनुष्यादयश्चेतनाः, समये सुकृतमये क्वचिदवसरे, यत्पदतः यस्य भगवतोऽखिलकल्याणगुणमयस्वरूपावधारणतस्तथाविधमङ्गलविग्रहचरणकमलानुध्यानतश्च, मुच्यते सर्वदुःखरहितो यथार्थस्वस्वरूपावस्थितश्च भवति, स भगवान्, नः मुमुक्षूणाम् अस्माकम्, (मनसि) स्फुरताद् सततध्यानगोचरो भूयात् ।

भाषानुवाद—सारे विश्व के और अपने आत्मस्वरूप के भी आत्मभूत जिस परमात्मा को समुचित रूप से न समझकर कल्याण के स्वरूप और उपायों के सम्बन्ध में अज्ञान के कारण नाना दुःखों से घिरा जीव कभी पुण्य समय में जिनके स्वरूप और स्वभाव तथा मंगलविग्रह चरणारविन्द का ज्ञान और अवलम्ब पाकर दुःखों से छूट जाता है वे परमात्मा हमारे हृदय में प्रकाशमान रहें ॥ १ ॥

दुःखहेतवः के के
दुःखानि कथं न मेऽभिरोचन्ते ।
तत्प्रतिघातोपायाः
सुलभाः सत्याश्च के कथम्बोध्याः ॥२॥

अन्वयः—श्लोक एव ।

व्याख्या—ग्रन्थस्याधिकारिणं निरूपयति दुःखेत्यादि द्वाभ्याम् । दुःखहेतवः प्रतिकूलतयाऽनुभूयमानानां विविधदुःखानां कारणानि, के के प्रातिस्विकरूपेण वाह्यान्यान्तराणि च कानि, दुःखानि कथं न मेऽभिरोचन्ते दुःखेषु प्रतिकूलताधीहेतुः कः, तत्प्रतिघातोपायाः दुःखनिवारण-कारणानि, सुलभाः सुखोपादानाः, सत्याः अविफलाश्च, के सन्ति, कथम्बोध्याः तेषु प्रमाणानि च कानि ।

भाषानुवाद—दुःखों के कारण कौन-कौन से हैं, दुःख क्यों सहे नहीं जाते, दुःखों को रोकने के सुलभ और सफल उपाय कौन से हैं। उनका ज्ञान कैसे होता है।

यस्यैवं जिज्ञासा
बोधभान्वरुणरश्मयो भान्ति ।
सत्पथमार्तण्डोऽयं
तच्चित्तव्योम्न्यनावृतः स्फुरति ॥ ३ ॥

अन्वयः—बोधभान्वरुणरश्मयः एवं जिज्ञासा यस्य भान्ति तच्चित्तव्योम्नि अयं सत्पथमार्तण्डः अनावृतः स्फुरति ।

व्याख्या—बोधभान्वरुणरश्मयः बोध एव भानुः सूर्यः तस्य अरुणरश्मयः उदयपूर्वंदृश्या रक्तकिरणा एव, एवम् पूर्वोक्तरूपा, जिज्ञासाः सानुरागज्ञानेच्छाः, भान्ति परैरपि प्रतीयन्ते, तच्चित्तव्योम्नि तदीये स्वच्छगगनाभविशदचेतसि, अयम् प्रस्तूयमानः, सत्पथमार्तण्डः एतन्नामा निबन्धः, अनावृतः संशयानादरादिदोषरहितः, स्फुरति विस्पष्टम्प्रतिभाति ।

भाषानुवाद—सूर्योदय से पूर्व क्षितिज की लाली की भाँति जिस किसी भाग्यशाली के हृदय में इस प्रकार के प्रश्न बार-बार उठते रहते हैं उसी के हृदय रूपी आकाश में, यह सत्पथमार्तण्ड नामक निबन्ध असन्दिग्ध रूप से प्रकाशित हो सकता है ।। ३ ।।

विश्वरूपधृद् विष्णुः
सुरमनुजपशुतरुतृणवपुः श्रीशः ।
स्वं च तदीयं रूपं
तत्सततार्चापरः सुधीर्भूयात् ।। ४ ।।

अन्वयः—सुरमनुजपशुतरुतृणवपुः, श्रीशो, विष्णुः, विश्वरूपधृत्, स्वं च तदीयं रूपम्, सुधीः, तत्सततार्चापरः, भूयात् ।

व्याख्या—ग्रन्थस्यास्य कृत्स्नम् प्रमेयमुपक्षिपति विश्वरूपेत्यादिनैकेन । सुरेत्यादि सुरादितृणान्तसर्वभूतशरीरधारी, श्रीशः सकलैश्वर्यशेवधिर्लक्ष्मीपतिः, विष्णुः सकलार्थनियमननिरतो विश्वव्यापी नारायणः, विश्वरूपधृत् विश्वं दृश्यम् अनुमेयं च गगनादि प्रकृतिमहदादि च जगत्, तद् एव रूपं धारयते विविधविचित्रानन्तपरिणामवत्तया सञ्चेष्टते इति तथोक्तः, स्वम् आत्मा, च तदीय विष्णोरेव, रूपम् शरीरभूता मूर्तिः, सुधीः एतत्तत्त्ववित्, तत्सततार्चापरः तस्य विष्णोरेव निरन्तरसमाराधननिरतः, भूयात् अस्तु शुभाय । तदधीनसकलोपकरणसम्पाद्याः स्वीयज्ञानेच्छायत्नजनिताः स्वीयतया प्रतीयमानाः सर्वाश्चेष्टा वस्तुतः [illegible] वेदान्ततत्त्वं

क्षणमपि न विस्मरणीयं सकलानिष्टनिवृत्तिपूर्वकमोक्षपर्यन्तसकलहित-तमावस्थालिप्साश्रद्धावशम्वदेन । इयमेव तदीया मुख्यार्चा सततसम्पादनीयेति तात्पर्यम् ।

भाषानुवाद—यह जो सारा विश्व प्रत्यक्ष है और जो देव मनुष्य आदि प्राणिसमूह हैं वे सब लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के ही रूप और शरीर हैं। अपनी आत्मा भी उनका ही रूप है। विज्ञजनों को चाहिए कि अपनी सारी चेष्टाओं को उनकी ही मानते हुए उनकी ही निरन्तर सेवा में लगे रहें ।। ४ ।।

प्रथमं साऽर्च्या मूर्ति-
र्याऽहम्ममेति गृह्यते सर्वस्य ।
यन्मूल्यत्वं विश्वं
सविश्वेशं च तद्धिया नाप्नोति ।। ५ ।।

अन्वय—प्रथमं सा मूर्तिः अर्च्या या सर्वस्य अहम् मम इति गृह्यते । यन्मूल्यत्वं सविश्वेशं च विश्वं तद्धिया न आप्नोति ।

व्याख्या—विष्णोरनन्तासु, मूर्तिषु प्रथमं स्वात्मैवार्चनीय इत्याह प्रथममिति । प्रथमम् अर्चनक्रमे पूर्वम्, सा मूर्तिः प्रतिमा भगवतः, अर्च्या पूजनीया, या सर्वस्य प्राणिजातस्य, अहमिति, भेद विवक्षया पुनर्मम इति च गृह्यते अनुभूयते, यन्मूल्यत्वम् यस्य पर्यायत्वम्, सविश्वेशम् भगवताऽपि सहितं, विश्वं जगत्, तद्धिया अहमिति गृह्यमाण-चेतनबुद्ध्या, न आप्नोति न क्षमते ।। ५ ।।

भाषानुवाद—पूजा के क्रम में सबसे पहले भगवान् की उस मूर्ति की पूजा करनी चाहिए जो सबको 'मैं' समझ में आता है। कभी-कभी वही विशिष्ट की अपेक्षा शुद्ध का भेद मानकर एवं विशिष्ट को अहम् अर्थ मानकर 'मेरा' भी माना जाता है जिसका मूल्य यह सारा संसार नहीं हो सकता, संसार के साथ उसके स्वामी परमात्मा को भी जोड़ देने पर उस चेतन तत्त्व की बुद्धि के अनुसार उसका मूल्य नहीं हो सकता।

मूल्यवान् और बहुमूल्य की अपेक्षा अमूल्य वस्तु का सम्मान सर्वाधिक होना स्वाभाविक है। अतः अहम् बुद्धि के विषय उस स्वस्वरूप आत्मा की पूजा पहले करनी चाहिए ॥ ५ ॥

प्रत्यग्भाः परमात्मा
भाति व्योम्नीव भानुमुखपिण्डाः ।
तस्मिंस्तद्रूपत्वं
श्रुत्यवसेयं विदा सदा ध्येयम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—व्योम्नि भानुमुखपिण्डा इव प्रत्यग्भाः परमात्मा भाति, श्रुत्यवसेयं तस्मिन् तद्रूपत्वम् विदा सदा ध्येयम् ।

व्याख्या—सकलं विश्वम्भगवद्रूपम्मन्वानेन विपश्चिता स्वात्माऽपि सदा सेव्यो भगवानेव मन्तव्य इत्याह प्रत्यग्भा इत्यादिना। व्योम्नि गगने, भानुमुखाः सूर्यादयो विद्योतमाना अगणिता ज्योतिष्पिण्डा, इव 'ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु०'रित्यादि शताधिक श्रुति-स्मृति-वचनानुरोधेन, परमात्मा भातीति मन्यते, तथैव प्रत्यग्भाः स्वस्मै स्वयम्प्रकाशमानः, जातावेकवचनम्, वस्तुतोऽसंख्याताश्चेतना अपि परमात्मैव भाति, श्रुत्यवसेयं वेदवाक्यानां सर्वस्य दृश्यजातस्य परमात्मत्वप्रतिपादकानां तात्पर्यबोधगम्यं, तस्मिन् चेतनतत्त्वे, तद्रूपत्वम् भगवद्विग्रहत्वं, विदा श्रुत्यर्थविवेकशीलेन, सदा सर्वकालं, ध्येयं न विस्मर्तव्यम् अहम्ब्रह्मास्मीति ।

सर्वत्र ब्रह्मणो व्याप्तिं ते विदुर्ये शुभाशयाः ।
तन्मूर्तिमेकामात्मानं ज्ञात्वा निष्कामतां गताः ॥
न कामेन न कोपेन न प्रमादेन योज्यताम् ।
आत्माऽर्चा स्वामिनो मूर्तिः सततार्चापरायणैः ॥

भाषानुवाद—अनन्त आकाश में सूर्य आदि अगणित तारापिण्ड जो प्रकाशित हो रहे हैं वे सब वेदादि शास्त्र वचनों के अनुसार जैसे परमात्मा ही प्रकाशित हो रहे हैं, शास्त्रज्ञों को उनके परमात्म होने में

सन्देह नहीं होता वैसे ही यह जो चेतन तत्त्व अपने आपको अपने लिए सदा प्रकाशित कर रहा है जिसकें बारे में किसी को न होने का सन्देह नहीं होता वह विश्व सृष्टि का सर्वाधिक महत्त्व वाला माध्यम भी परमात्मा का ही एक निरन्तर स्फुरण है। उसके सम्बन्ध में भी शास्त्रवचन प्रमाण हैं। श्रुतिविदित यह तथ्य है कि सभी चेतन तत्त्वों की भाँति मैं भी परमात्मा का ही एक रूप हूँ, सदा ध्यान में रखना चाहिए। इस कल्याणकारी तथ्य का विस्मरण शास्त्रनिष्ठ विद्वान् को नहीं होना चाहिए। इससे अपने आप पर श्रद्धा बढ़ती है और प्रमाद-सहित सारे कामादि दोष दूर हो जाते हैं ॥ ६ ॥

यथा हरेर्गगनाद्याः
श्रुतिविदिता मूर्तयः सताम्प्रथिताः ।
प्रकृतिः परा त्रिलोक्या-
स्तद्वज्जीवोऽपि तद्वपुः स ततः ॥ ७ ॥

अन्वयः—यथा गगनाद्याः श्रुतिविदिता हरेः मूर्तयः सताम् प्रथिताः तद्वत् त्रिलोक्याः परा प्रकृतिः जीवः अपि तद्वपुः ततः सः ।

व्याख्या—उक्तमेवार्थम् अल्पश्रुतानां विश्रम्भस्थेम्नेऽन्यथाऽप्याह यथेति। यथा गगनाद्या आकाशादिपञ्चमहाभूतानि तन्मात्राश्च श्रुति-विदिता ईक्षत्यधिकरणादि वेदान्तादिसन्दर्भेषु प्रसिद्धाः, हरेः परमात्मनो, मूर्तय इति, सताम् सात्त्विकधियां विदुषाम्, प्रथिताः, असंशयं विदिताः, तद्वत् तेष्वेव सन्दर्भेषु, हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मना-ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'त्यादिभिरुद्धृतैर्विषयवाक्यैः त्रिलोक्या-श्चतुर्दशभुवनवर्तिप्राणिजातस्य, परा उत्कृष्टा सूक्ष्मा अनश्वरा, प्रकृतिः उपादानतत्त्वम्, 'अपरेयम् इतस्त्वन्याम् प्रकृतिं विद्धि मे पराम्' इति श्लो० ५ अ० ७ भगवद्गीतोक्तानुसारम्, जीवः जीवात्मा, अपि तद्वपुः तस्य विष्णोः परमात्मनः शरीरम्, ततः शरीरशरीरिणोरभेदाध्यव-सायस्य व्यावहारिकत्वात्, अहमिति मतिविषयस्यैव शरीरत्वव्यवहारात् जीवोऽपि शरीरतया, सः परमात्मा ज्ञेयः। यह द्वयम् परमात्मा यद-

मिति मन्यते तत् स एव। तद्धियोऽस्माभिरन्यथयितुमशक्यत्वात्। आह हि 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित' इति भगवद्गीता श्लो० २० अ० १०।

भाषानुवाद—श्रुतियों से यह विदित होता है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा आकाश के रूप में प्रकट हुए, उस आकाश से ही वायु के रूप में प्रकट हुए, आगे वायु से तेज और तेज से जल और जल से पृथिवी और पृथवी से क्रम से अनन्त प्राणिसमूह के रूप में वे परमात्मा प्रकट हुए। प्राणि सृष्टि में जीवतत्त्व हुआ करता है। वही जीवात्मा या चेतन कहलाता है। वह नित्य होता है। कर्मों के अनुसार उसकें ज्ञान में बदलाव होता रहता है। इससे विविध शरीर उसे मिलते रहते हैं। श्रुति वचनों के अनुसार वह जीवतत्त्व भी परमात्मा की नित्यमूर्ति है। विश्व सृष्टि में जडतत्त्व को अपरा प्रकृति कहा गया है और चेतन तत्त्व को परा। यह परा प्रकृति परमात्मा की अधिक उपयोगी प्रिय मूर्ति है। यहाँ 'यस्यात्मा शरीरम्०' इत्यादि श्रुतिवचन मननयोग्य हैं॥ ७॥

अहंग्राहमुखलग्न-
स्तद्दशनव्रणजदुःखशतमग्नः।
कां नु करोत्वीशार्चा
दुःखेतरदस्य किन्नु सत्तत्त्वम्॥ ८॥

अन्वयः—श्लोक एव।

व्याख्या—दुःखिनाम्भगवदाराधनमशक्यमित्याक्षिपति—अहंग्राहेत्यादि। स्वस्माद् देहादिपर्यन्तप्रसारी अहंग्रह एव ग्राहो मकरः, तन्मुखं देहादिमयी चित्तवृत्तिः, तत्र लग्नः तदभेदेनात्मानमपश्यन्, तस्य देहादिविषयकचित्तवृत्तिरूपस्य मुखस्य, यानि दशनानि देहोपकारिवस्तुजातगता ममताः, तैर्दंशनैर्ये व्रणास्तत्तद्वस्तुविनाशापगमध्यानानि, तैर्यानि दुःखशतानि स्वरूपात्यन्तविस्मृतिकारणभूतानि, तेष्वेव मग्नो मूर्छित-

प्रायश्चेतनः, कां नु ईशार्चां करोतु। असम्भविनी सा, स्वस्यैव विस्मृतौ भगवता स्वसम्बन्धावबोधविरहात् तदर्चाया लेशस्याप्यसम्भवात्। अस्य देहादिषु स्वत्वग्रहपरस्य, दुःखेतरद् दुःखभिन्नं, किन्तु सत्तत्त्वम् सततानुभूयमानदुःखभिन्नम् भगवदादिपदप्रतिपाद्यम्, अविनाशि तत्त्वं किं नु स्यात् न किमपीत्यर्थः। निरन्तरदुःखराशिमग्नस्य धिया दुःखमेव सद् तत्त्वं स्यान्नान्यत्किमपीति तात्पर्यम्।

भाषानुवाद—जो लोग निरन्तर अज्ञान से होने वाले दुःखों के ही अनुभव कर रहे हैं वे भगवदाराधन में सक्षम नहीं हो सकते, ऐसा आक्षेप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जो चेतन देहादि में अहम्बुद्धिरूपी गृहीतग्राही स्वभाव वाले मगर के मुँह में फँसे हैं और जो आसक्ति ममता आदि चित्तवृत्तिरूप उसके दाढ़ों के दबाव से होने वाले अगणित संयोगवियोग हेतुक दुःखों में डूबे हैं वे ईश्वर की कौन-सी पूजा कर सकते हैं। यदि उन्हें कोई समझाना चाहे कि ईश्वर नामक कोई स्थायी तत्त्व है उससे लगाव बढ़ाना चाहिए तो वे शायद यही समझेंगे कि स्थायी तत्त्व तो दुःख ही है और दूसरा कोई समझ में नहीं आता। असह्य दुःखों की स्थिति में अपने और ईश्वर के स्वरूप स्वभाव कर्तव्य पुरुषार्थ आदि का ज्ञान न होने से प्रस्तुत पूजा सम्भव नहीं लगती ॥ ८ ॥

सत्पुरूषाणां सङ्गा-
ल्लब्ध्वाऽहंग्राहमुक्तमात्मानम्।
निन्द्यं कामं कोपं
तद्विकारमोहमत्सरादींश्च ॥ ९ ॥
स्वानवबोधोद्भूतान्
दोषान् आचार्यसद्धिया धूत्वा।
तद्गुणसिन्धुस्नात-
स्तच्छेषत्वप्रमो महात्मनः ॥ १० ॥

अनन्यतामुख्यार्थै-
र्निगमागमसङ्गतैः प्रतिष्ठाप्य ।
तदनुभूतिरसललित-
न्तद्धनमात्मानमर्पयेत्सुमतिः ॥११॥

अन्वयः—सुमतिः सत्पुरुषाणां संगात् अहंग्राहमुक्तम् आत्मानं लब्ध्वा निन्द्यं कामं कोपं तद्विकारमोहमत्सरादींश्च स्वानवबोधोद्भूतान् दोषान् आचार्यसद्धिया धूत्वा तद्गुणसिन्धुस्नातः तच्छेषत्वभूमौ निगमागमसङ्गतैः अनन्यतामुख्यार्थैः महामन्त्रैः प्रतिष्ठाप्य तदनुभूतिरसललितं तद्धनम् आत्मानम् अर्पयेत् ।

व्याख्या—सभाधत्ते सत्पुरुषाणमित्यादित्रयेण । सुमतिः दुःखेष्वपि जितात्मा निःश्रेयसहेतुदृढप्रज्ञः, सत्पुरुषाणाम् भगवन्निष्ठागरिष्ठानाम् महात्मनां, संगात् तदुक्तितच्चरितश्रद्धाऽनुरागयोगात्, अहंग्राहमुक्तम् सेवासमर्जिततत्त्वनिष्ठया देहादिष्वहम्बुद्धिरूपमकरमुखतो दूरीभूतम्, आत्मानं स्वस्वरूपम् लब्ध्वा स्थिरावधानेनावगत्य, निन्द्यम् परमपुरुषार्थविरुद्धं निषिद्धविषयं, कामम् अनुरागम्, कोपम् तत्परिणामम्, तद्विकारभूतान् कामकोपपरिणामविशेषान्, मोहमत्सरप्रभृतींश्च नानावस्थान्, स्वानवबोधोद्भूतान् स्वस्वरूपाज्ञानैकहेतुकान्, दोषान् निःश्रेयसप्रतिबन्धकान्, आचार्यसद्धिया सदाचार्यवचनलब्धया, न तु पुस्तकावलोकनमात्रजनितया निःश्रेयसफलोपधायकहेतुरूपया प्रज्ञया, धूत्वा दूरीकृत्य, तद्गुणसिन्धुस्नातम् तस्य प्रस्तुतस्य भगवतः स्वामित्वसौशील्यवात्सल्यप्रभृतिभक्तिवृद्धिहेतुगुणसमुद्रानुभवविधूतसंसारदोषजातम्, तच्छेषत्वभूमौ तस्य भगवतः शेषत्वम् तद्गतातिशयाधानहेतुत्वम् तदाराधनैकरतिरूपं सैव भूमिः मानसी भूमिका तत्र, निगमागमसङ्गतैः श्रुतिभगवच्छास्त्रसमानतात्पर्यकैः, अनन्यतामुख्यार्थैः भगवदेकोपायोपेयताप्रतिपादनपरैः, महामन्त्रैः श्रौतमहावाक्यचतुष्टयार्थविशदीकरणप्रवणैर्निःश्रेयसमन्त्रणहेतुभूतैः श्रीवैष्णवेषु प्रथितजपानुसन्धानकाल-

क्षेपसहकारिभूतैर्वाक्यविशेषैः, प्रतिष्ठाप्य सुदृढनिष्ठया संयोज्य, तदनुभूतिरसललितम् भगवदनुभवजनितभक्तिविशेषेण भगवद्भागवतानाम् असन्दिग्धस्पृहाविषयम्, तद्धनम् तदीयानाद्यनन्तसंसारविभूतिप्रकृतिभूतम्, आत्मानं स्वम्, अर्पयेत् सकलसंसारदोषहेत्वहंग्रहानुदयनियामकतच्छेषत्व-तद्भोग्यत्व-तन्नियाम्यत्वरूपाकारत्रयरूपामनादिसम्पत्तिं क्षणमपि न विस्मरेदिति भावः।

भाषानुवाद—आक्षेप का समाधान करते हैं कि सभी अवस्थाओं में सत्पुरुषों की संगति आवश्यक होती है। वे ही मिथ्या अहङ्काररूपी ग्राह के मुँह से आत्मा को निकाल कर हाथ पर रखे फल की तरह दिखला देते हैं। तब अज्ञान जनित कामकोपवर्गों के सारे दोष दूर हो जाते हैं। तभी अपने को भगवान् के सम्बन्धों पर, आधारित शेषत्व प्रधान गुणों से अलंकृत करके उनके चरणों में असन्दिग्ध ज्ञानपूर्वक समर्पण करने और उज्जीवन प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होता है। इसका विस्तार संस्कृत व्याख्या है ।।९-१०-११।।

यथा दीयते कन्या
पत्ये पित्रा निरूप्य सारूप्यम् ।
परमात्मन आत्मानं
योग्यं यच्छति तथा सदाऽचार्यः ।।१२।।

अन्वयः—यथा पित्रा सारूप्यं निरूप्य पत्ये कन्या दीयते तथा सदाचार्यः परमात्मने योग्यम् आत्मानं यच्छति।

व्याख्या—उक्तम् आत्मार्पणं सदाचार्यद्वारैव विधिवद् भवतीति कन्यादृष्टान्तेनाह—यथेति। यथा पित्रा जनकेन, सारूप्यं द्वयोरानुरूप्यं, निरूप्य निभाल्य, पत्ये वराय, कन्या स्वेन जनिता पालिताऽलंकृता च स्त्रीप्रजा, दीयते द्वयोरुचितः सम्बन्धोऽनुज्ञाय सम्पाद्यते, तथा तद्वत्, सदाचार्यः सत्सम्प्रदायनिष्ठः शास्त्ररहस्यविधिज्ञ आचार्यः, परमात्मने श्रीमते नारायणाय, योग्यं विदितस्वरूपस्वधर्मम्, आत्मानं चेतनं, यच्छति तस्य भगवत्समर्पितावस्थां तदनुरूपकर्तव्यजातं चावबोधयति।

भाषानुवाद—कोई भी कन्या यौवन आने पर युवक की अपेक्षा रखने लगती है। अपने विवेक से वह अपने अनुरूप वर का भी विचार करती है, किन्तु अनुरूपता के निर्णय में वह पिता के समान सक्षम नहीं होती, इससे पिता के द्वारा ही पुरुष का वरण करती है। ऐसे ही विवेकशील व्यक्ति अपने को किसी अदृष्ट महान् शक्ति के अधीन पाता है और उसे समझकर उससे अपना सामञ्जस्य बनाना चाहता है, किन्तु इसकी विधि का ज्ञान शास्त्र रहस्यों के बोध और निष्ठा पर निर्भर करता है। वह योग्यता जिसमें होती है उसके ही माध्यम से जिज्ञासु विवेकी मुमुक्षु अधिकारी परमात्मा से अपने सम्बन्ध को ठीक से समझकर उसके अनुरूप शारीर मानस वाचिक कर्तव्य अपनाकर आत्मकल्याण के प्रति निर्भर होता है। इससे कल्याणकामी व्यक्ति सदाचार्य का अन्वेषण करते हैं ।।१२।।

यथाऽलंकृतौ वपुषः
सज्जन्ते लौकिका वहिर्द्रव्यैः।
तथाऽन्तर्गुणैः सद्भिः
सम्भूष्यात्माऽर्प्यते हरौ प्रयतैः ।।१३।।

अन्वयः—यथा लौकिका बहिर्द्रव्यैः वपुषः अलंकृतौ सज्जन्ते तथा प्रयतैः सद्भिः आत्मा अन्तर्गुणैः सम्भूष्य हरौ अर्प्यते।

भाषानुवाद—आत्मगुणालंकृत एवात्मा हरयेऽर्पणीयोऽथार्पितोऽपि वपुरिवान्वहं गुणैरलङ्करणीय इत्याह—यथेति। यथा यद्वत् लौकिका वहिर्मुखाः पुरुषाः, वहिर्द्रव्यै सुवर्णरत्नादिभिरारोपितमूल्यैः, वपुषः शरीरस्य, अलंकृतौ भूषणे, सज्जन्ते तत्परा भवन्ति, तथा तद्वदेव, प्रयतैर्जितेन्द्रियैरन्तर्मुखैः सद्भिः आत्मनिष्ठैर्मुमुक्षुभिः, आत्मा स्वम्, अन्तर्गुणैः अमानित्वादिभिर्भक्तिज्ञानादिभिश्च, सम्भूष्य सम्यगलंकृत्य, हरौ परमात्मनि जगत्स्वामिनि, अर्प्यते तदेकधार्यत्वनियाम्यत्वभोग्यत्व-

भाषानुवाद—कन्या अलंकृत अवस्था में ही पुरुष को प्राप्त होती है। ऐसे ही मुमुक्षु चेतन भी परमपुरुष परमात्मा को अमानित्व आदि उपायभूत एवं भक्तिज्ञान आदि उपेयभूत उत्कृष्ट गुणरूपी अलंकारों से सजकर ही प्राप्त होता है। इससे भगवान् की शरण में जाने के लिये श्रेष्ठ आत्मगुण अर्जित करने चाहिए। सदाचार्य अपने सदुपदेशों से अलंकृत करके ही चेतन को भगवान् की शरणं में भेजते हैं ॥१३॥

अमानित्वमुखभावै-
र्विंशत्या गुरुदयारसोदीर्णैः।
स्रक्चन्दनमणिहारै-
रर्च्यः स्वात्मा नृहरिरलङ्कारैः ॥१४॥

अन्वयः—गुरुदयारसोदीर्णैः विंशत्या अमानित्वमुखभावैः स्रक्चन्दनमणिहारैः अलंकारैः स्वात्मा नृहरिः अर्च्यः।

व्याख्या—स्वात्मा विश्वरूपः परमात्मैव, तेन स्वगुणाः स्वरूपपरमात्म-मूर्तिस्थिताः स्रक्चन्दनहारादिस्थानीया अलङ्कारा मन्तव्या न तु स्वभोग्याः स्वाभिमानवृद्धिहेतवो विधेया इत्याह—अमानित्वेत्यादि। गुरुदयारूपेण रसेन उदीर्णैर्लब्धोत्कर्षैर्भगवदेकाश्रितत्वधीविषयभूतैरिति भावः, विंशत्या अमानित्वमुखैर्भगवद्गीतास्थितै (अ१३) र्भावैः संस्कारविशेषैः, तैरेव स्रक् पुष्पहारः, चन्दनम् मलयजालेपनम्, मणयो रत्नानि, तेषां हारास्तत्स्थानीया अलंकारा आभूषणानि, तैः स्वात्मा एव नृरूपो हरिः परमात्मा अर्च्यः सदा पूजनीयः सेव्यश्च।

भाषानुवाद—अमानित्व आदि दुर्लभ बीस गुण होने पर ही आत्मदर्शन सम्भव होता है। तभी भक्ति ज्ञान आदि महान् गुण आते हैं। इन गुणों का कुछ अर्जन हो जाने पर गर्व हो सकता है। तब ये गुण दम्भ आदि दोषों का रूप लेकर पतन के कारण बन जाते हैं। यदि सद्गुरु की कृपा से यह समझ बनी रहे कि मैं परमात्मा हूँ। मेरे गुण वास्तव में परमात्मा की मूर्ति में अर्पित तुलसी पुष्प चन्दन माला

आदि की भाँति उनके ही उत्कर्ष के कारण है। अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है तब गर्व दम्भ आदि दुर्गुण नहीं होते। इससे अपने को भगवान् की मूर्ति मानते हुए अपने में अमानित्व आदि गुणों को भगवत्-पूजोपकरण पुष्प चन्दन आदि के रूप में श्रद्धापूर्वक अर्जन संवर्धन रक्षण करते रहना चाहिए ॥१४॥

यथाऽलंकृतिर्मूर्ते-
र्भगवत एवावसीयते न पृथक्।
आत्मगुणानपि विष्णौ
मत्वा चिनुते तथाऽर्चयन् सुमतिः ॥१५॥

अन्वयः—यथा मूर्तेः अलंकृतिः भगवत एव अवसीयते, पृथक् न तथा अर्चयन् सुमतिः आत्मगुणान् अपि विष्णौ मत्वा चिनुते।

व्याख्या—उक्तमेवार्थम्बाह्यदृष्टान्तेन द्रढयति—यथेति। यथा मूर्तेः आलयादिस्थिताया भगवत्प्रतिमायाः सम्बन्धिनी, अलंकृतिः भूषा, भगवत एव सङ्कल्पप्रतिष्ठापितसूक्ष्मचेतन परमात्मन एव, अवसीयते निश्चीयते. मूर्तिमूर्तिमतोः शरीरशरीरिणोरिव शास्त्रैस्तादात्म्याध्यवसायात्, न तु स्थूलसूक्ष्मभेदाधीनतर्केण भगवतः पृथक् अन्यत्र मन्यते। तथैव अर्चयन् भगवदर्चनप्रवणजीवनः, सुमतिः भगवत्तत्त्वनिष्ठो मुमुक्षुः, आत्मगुणान् अमानित्वमुखान् भक्तिज्ञानादींश्च स्वगतान्,विष्णौ स्वाकारमूर्तिमति परमात्मनि, मत्वा अवधारयन्, चिनुते ज्ञानानुष्ठानाभ्याम् अर्जयति द्रढयति भगवन्मूर्तौ स्वस्मिन् सम्यग् विनिवेशयति।

भाषानुवाद—विश्व के अणु-अणु में परमात्मा की परिपूर्ण व्याप्ति है। वे केवल जड आकाशादि की तरह व्याप्त नहीं हैं बल्कि वे धारक नियामक और भोक्ता भी हैं। इस तथ्य का सतत अवधारण करता हुआ मुमुक्षु साधक मूर्तियों के अनुरूप पूजा में प्रवीण होता है। वह अपने आपको यानी स्वस्वरूपभूत चेतन तत्त्व को भी परमात्मा की मूर्ति मानकर उस पर आत्मगुणरूपी पुष्पों के सुन्दर विन्यास में तत्पर

रहता है। मूर्ति और मूर्तिमान् में भगवत्सङ्कल्पाधीन तादात्म्य होने के कारण वह आत्मगुणों को भगवान् से तनिक भी अलग नहीं मानता, इससे दम्भ दर्प आदि दोष उसमें नहीं होते ॥१५॥

भगवदेकरतिभाजा
सच्छास्त्रानुसारिणा च स्वान्तेन ।
चिन्हैस्तदीयतार्हैः
पूज्योऽहम्बुद्धिविषयरूपोऽसौ ॥१६॥

अन्वयः—अहम्बुद्धिविषयरूपः असौ भगवदेकरतिभाजा सच्छास्त्रानुसारिणा स्वान्तेन तदीयतार्हैः चिह्नैश्च पूज्यः।

व्याख्या—समग्रपूजां त्रिधा विभज्याह-अहमित्यादि अहम्बुद्धिविषयरूपः 'अहम्' इत्याकारधिया प्राणिमात्रेण सदा गृह्यमाणो निर्विशेष आत्मा अहम्बुद्धिविषयः स एव रूपम् अभिव्यक्तिर्यस्यासौ तथोक्तः, असौ परमात्मा, भगवदेकरतिभाजा भगवति परमात्मनि एकस्मिन् केवले उपायोपेयाकारविषयान्तरासम्पृष्टे रतिर्भक्तिः ताम् भजतीति तथोक्तः तेन, सच्छास्त्रानुसारिणा भगवद्गीतोक्ता (१३अ०) मानित्वादि तत्त्वदृष्टिहेतुगुणार्जनरक्षणप्रवणेन, स्वान्तेन चित्तेन, तदीयतार्हैः भगवत्सम्बन्धसूचकैः, चिह्नैर्भगवदसाधारणलक्षणैस्तापपुण्ड्रनाममन्त्रयागविशेषैश्च, पूज्यः अर्चनीयः। मूर्त्यनुरूपैव हि विहिता पूजा पूज्यस्य तुष्टये कल्पते।

भावानुवाद—भगवान् अनन्तरूपों से विश्व में प्रकाशमान हैं। इसीसे वे अनन्त भी कहे जाते हैं। वास्तव में विश्व के दृष्ट श्रुत और कल्पित सारे रूप परमात्मा के ही हैं। हम जो अपने आपको 'हम' या 'अहम्' समझते हैं और कहते हैं, वह भी परमात्मा का ही एक रूप है। हम शास्त्रवचनों से दृष्ट श्रुत सारे रूपों प्राणियों और देवताओं को भगवान् का रूप आसानी से मान लेते हैं, किन्तु अपने आपको मानना भूल जाते हैं। डरते भी हैं कि कहीं भगवान् का या बड़े लोगों का

अपराध न हो जाये। यहाँ डरने की बात नहीं है। भगवान् की अखिल विश्व में व्याप्ति का अनुभव अपने आपको भी भगवान् का रूप मान लेने पर ही पूरा होता है। इससे अपना कोई महत्त्व नहीं बढ़ता है। महत्त्व तो भगवान् का है। जो तत्त्व सर्वत्र है वह रहेगा ही। इस बोध से तो अपने प्रति वह दायित्व बढ़ जाता है जिसे समझे बिना और समझ के अनुरूप व्यवहार के बिना हम आत्मकल्याण से बहुत दूर रह जाते हैं।

अस्तु, हम अपने आपको भगवान् की शाश्वत मूर्ति मानकर उसमें ऐसे सुन्दर भावरूपी कुसुम अर्पित करें जिससे शोभा में कमी न रहे, बल्कि वह अधिकाधिक बढ़ती रहे। भगवद्गीता के १३ वें अध्याय में अमानित्वम् अदम्भित्वम् आदि बीस गुण गिनाये हैं। उन्हें वहाँ तत्त्वज्ञान के साधन के रूप में माना गया है। वहाँ का प्रत्येक गुण प्रत्यक्तत्त्व रूपी परमात्मा के लिये बहुमूल्य रत्नहार है। श्रवण मननादि उपायों से अर्जित करके उन्हें सादर अर्पित करते रहें। अपने आपको सदा आदर्श रहन-सहन आहार बिहार में ही रखें। जैसे 'नववधू' ससुराल में पति की सन्तुष्टि के लिये सदा सावधानी से अपने को अलंकृत रूप में ही रखती है। वह कभी नहीं सोचती कि हम अपने को चाहे जैसे भी रखें। ऐसे ही भगवत्तत्त्वदर्शी महापुरुष भी भगवान् की सन्तुष्टि के लिये अपने को उनकी ही मूर्ति मानते हुए सदा सुन्दर भावों से अलंकृत ही रखते हैं। इसके लिये प्रपत्ति शरणागति ब्रह्मसम्बन्ध आदि नामों से प्रसिद्ध कुछ आत्मसंस्कार किये जाते हैं। उनका सम्पादन अधिकृत माध्यमों से होता है। उक्त संस्कार विधिवत् प्राप्त हो जाने पर लौकिक विषयों के प्रति आसक्ति छूट जाती है और केवल भगवान् में आत्मीयता और अनुराग बढ़ता जाता है। तब अपने को विषयों से दूर सम्हाल कर रखने की श्रद्धा होती है। तब वह सब अनुष्ठान अनायास होने लगते हैं जिनसे भगवत्सम्बन्ध का भाव उत्तरोत्तर बढ़ता है और भक्ति, परज्ञान, परम भक्ति जैसी अवस्थायें

हृदय में बनने लगती हैं। तब परमपद सन्निहित होकर प्राप्त भी हो जाता है ॥ १६ ॥

मिथो नमन्तः सन्तः
पश्यन्ति पुरो हरिं गुणागारम्।
श्रितमुखकमलनिषण्णं
द्वयविभूतिललितरसकृतोद्गारम् ॥१७॥

अन्वय—मिथो नमन्तः सन्तः द्वयविभूतिललितरसकृतोद्गारम् श्रितमुखकमलनिषण्णं गुणागारं हरिम् पुरः पश्यन्ति।

व्याख्या—बाह्यपूजा प्रणमान्ता भवति। अन्तरियं समर्पणपर्यायप्रणामपूर्वा। अन्तेऽपि प्रथमोऽग्रेपि सम्भवति साष्टाङ्गो यदि कोऽपि भगवत्प्रपन्नो भगवतो महनोया मूर्तिः पुरः स्यात्। सुललितभगवद्विग्रहावलोकनमेव पूजायाश्चरमः क्रमस्तत एव प्रणिपातस्तवेवोद्दिशति—मिथ इत्यादि। मिथः परस्परम्, नमन्तः प्रणिपतन्तः, सन्तो भगवद्भक्ताः, पुरः समक्षम्, हरिम् पश्यन्ति न तु नरम्, कथम्भूतं हरिम्? द्वयविभूतिललितरसकृतोद्गारम् लीलामयी नित्या चेति भगवतो विभूतिर्द्वयरूपा द्वाभ्यामपि भगवतो रसः सुखविशेष ललितः संसारिचेतनसुखात्यन्तविलक्षणः तेन सुखविशेषेण कृतः क्रियमाणः उद्गारः भावस्फुरणम् येन स तथोक्तस्तम्। विभूतिद्वयाधिपतेर्मम सङ्कल्पविशेषेण समाश्रयणानन्तरं कतिचित्कालं नित्यविभूतिगतसुखतुल्यमेव सुखं तवात्रापि स्ताद् इत्युद्गारो भगवतः परिकल्पनीयः। अथवा द्वयम् मन्त्रविशेषः, तद्विभूतिरर्थानुसन्धानजनितो निर्भरतातिशयः तेन जनितो ललितो दुःखासम्भिन्नो रस आशामयः सुखविशेषः तेन कृतः कियमाण उद्गारो निर्दुःखताप्रयुक्त आनन्दविशेषो येन स तथोक्तोऽतिसन्निहितमोक्षो भगवताऽन्यूनो भगवान् एव प्रणम्यस्तम्, पुनः कीदृशं हरिम्? श्रितमुखकमलनिषण्णम् श्रद्धाविश्रम्भपूर्तिजनितमुखाकारविशेषावसेयसन्निधानम्, गुणागारम् आश्रयादि—सावुध्यान्तसर्वावस्थानिर्वाहहेतु-

सत्यसङ्कल्पमयानन्तगुणभरितम्, हरिम् स्वकल्याणगुणजलधिनिलीन-सकलसात्त्विकचेतनचेतोरत्नराशिम् भगवन्तम् पुरः प्रणम्यम्पश्यन्ति। न कदाचिदपि क्षुद्रं कमपि प्रणमन्तीति भावः।

भाषानुवाद—इस आन्तरिक पूजा के अन्त में प्रणाम कैसे किया जाता है। अपने आपको प्रणाम बन नहीं सकता। इस प्रश्न पर उत्तर रूप में कहते हैं कि कोई भगवत्प्रपन्न महापुरुष यदि सामने मिल जायें तो प्रणाम बन सकता है। वे अपने अन्दर में पूजित भगवान् ही होते हैं। प्रणाम में भगवान् ही दिखाई पड़ते हैं। वे दोनों विभूतियों के निर्वाह के उपयुक्त समस्त सामर्थ्य लिये रहते हैं। आश्रित कार्य साधन में सक्षम और तत्पर होते हैं। आश्रितों के मुखारविन्द में श्रद्धा विश्वास के रूप में उपलब्ध होते हैं। ऐसे मुखारविन्द का दर्शन करके किया गया प्रणाम भगवान् के लिये ही होता है, किसी संसारी जीव के लिये नहीं ॥ १७ ॥

गुरुपरम्पराधारा-
सारस्नातस्तदाश्रयात्तारम्।
पश्यन् कृतकृत्यात्मा
बहति हृदा हरिं धृतनराकारम् ॥१८॥

अन्वयः—गुरुपरम्पराधारासारस्नातः तदाश्रयात् तारम् पश्यन् कृतकृत्यात्मा (प्रपन्नः) धृतनराकारम् हरिम् हृदा बहति।

व्याख्या—प्रस्तुतप्रणतिहेतुसम्भ्रमहेतुभक्तिविशेषोपधायक-ज्ञानविशेषम् प्रस्तौति–गुरुपरम्परेत्यादि। गुरुपरम्पराधारासारस्नातः भगवदाराधानां श्रुत्यन्तार्थबोधगुरूणाम् परम्परा अविच्छिन्नः क्रम एव जलधारेव भक्तिरसधारा तस्याः सारो भक्तिपूर्वावस्थाभूतं ज्ञानम् तत्र स्नातो व्युत्पन्नः। अथवा—गुरुपरम्परा मेघस्थानीया तस्या निर्गतो धाराऽऽसारोऽविच्छिन्नास्थाऽऽस्पदज्ञानप्रवाहः तत्र स्नातो व्युत्पन्नस्तेन शान्तोऽधिकारी तदाश्रयात् तादृशगुरुपरम्पराऽऽलम्बतः, तारम् संसार-

जलधिनिस्तरणम् साक्षादिव पश्यन् कृतकृत्यात्मा आत्मनिक्षेपोत्तरकृत्य-रहितः. प्रपन्नोऽधिकारी, धृतनराकारम् कारुण्यादेव कौसल्यादेवकी-सम्मुखं दर्शनानुभव-भक्तिवृद्धिहेतुनराकारधारिणं हरिं सकलजनदृष्टि-चित्ताकर्षणनिरतम्भगवन्तं, हृदा, विशुद्धचेतसा, बहृति धारयति, लौकिकविषयवैमुख्यातिशयात् ।

भाषानुवाद—प्रस्तुत प्रणाम के अङ्गों की पूर्ति भक्ति से होती है। स्वरूप स्वभाव और सम्बन्ध के ज्ञान से भक्ति होती है। उसी ज्ञान और भक्ति को प्रस्तुत करते हैं। विश्व के आदि गुरु परमात्मा हैं। हमारे आचार्य से प्राप्त ज्ञान यदि परमात्मा का ही दिया हुआ हो तो उस पर पूर्ण विश्वास होता है और आचार्य परम्परा पर श्रद्धा बढ़ती है। प्रस्तुत प्रणामी अधिकारी यदि गुरु परम्परा से प्राप्त ज्ञान की धारा में निष्णात हो तो उसे स्वभाव से ही गुरुपरम्परा पर भगवान् के तुल्य श्रद्धा और भक्ति होती है। गुरु की अपेक्षा उनके गुरु पर श्रद्धा अधिक होती है। आदि गुरु परमात्मा पर श्रद्धा की पराकाष्ठा होती है। इससे भगवान् के द्वारा प्रवाहित ज्ञान से मोक्ष हस्तगत जैसा लगता है। मोक्ष के लिये विहित कर्तव्य यदि पूरा हो चुका हो और फल की प्राप्ति यदि भगवान् पर निर्भर हो और वह फल यदि साक्षात् भगवान् ही हों तो अविच्छिन्न भक्तिधारा बनी रहती है। उसके हृदय में भगवान् सदा विराजते हैं। उसे भगवान् की वह करुणापूर्ण उदारता नहीं भूलती, जिससे भगवान् मानव के लिये मानव बन जाते हैं ॥१८॥

सेयं सात्त्विकपूजा
श्रीशस्यानन्तजगदधीशस्य ।
यया ययुः सुविहितया
सत्पदमवधूतसर्वबन्धानाम् ॥१९॥

अन्वयः—सा इयम् अनन्तजगदधीशस्य श्रीशस्य सात्त्विकपूजा (ज्ञेया) सुविहितया यया अवधूतसर्वबन्धानां सत्पदं ययुः (मुमुक्षवः) ।

व्याख्या—प्रस्तुतपूजाफलम्प्रस्तौति—सेयमित्यादि। सा प्रस्तुत-पूर्वा, इयम् उपसंहृता, अनन्तजगदधीशस्य असंख्यातब्रह्माण्ड-मण्डल-जननरक्षणोपसंहरणप्रवणस्य, श्रीशस्य लक्ष्मीपतेः परमात्मनः, सात्त्विकी मनोमयी, पूजा आराधनम्, इति ज्ञेयम्, सुविहितया विशुद्धचेतसा सम्पादितया यया पूजया, मुमुक्षवः, अवधूतसर्वबन्धानाम्, स्थिरेण ज्ञानेन निरस्तसकलसंसारसम्बन्धानाम् प्राप्यम्, सत् तात्त्विकं नतु भ्रान्ति-कल्पितम्, पदम् प्राप्यं स्थानम्, ययुः गतवन्तः मुमुक्षवः साधका इति शेषः।

भाषानुवाद—अभी तक जो प्रस्तुत हुआ है वह उस परमात्मा की मानसिक पूजा है जो सर्वोपरि सत्ता है। यह अन्य मानसिक पूजाओं से भिन्न है। इसमें कोई स्वेच्छाधीन कल्पना नहीं है। इसमें तो मन को प्रामाणिक तथ्यों से सर्वथा अनुकूल बनाने की बात है। इस पूजा से मन के संस्कारित होने के बाद परमात्मा की कोई भी पूजा अधिकाधिक फल देती है। इससे पहले संस्कारहीन मन से की गयी पूजाओं का फल नगण्य होता है। इस पूजा को शास्त्रगुरुनिर्देशानुसार करके मुमुक्षु शीघ्र ही सायुज्य मोक्ष पा लेते हैं ॥१९॥

मा भून्म्लानं कुसुमं
सद्भावरूपमर्पितं यत्तस्मै ।
इति खलवागातपतो
रक्षंश्चरति तत्सुधीर्भक्तः ॥२०॥

अन्वय—सुधीः भक्तः तस्मै यत् सद्भावरूपं कुसुमम् अर्पितं (तत्) म्लानम् मा भूत् इति खलवागातपतः तद् रक्षन् चरति।

व्याख्या—प्रस्तुतपुरुषार्थप्रतीपं खलसंगं वारयति—माभूदि-त्यादि। सुधीः शास्त्रवशः, भक्तः भगवदेकाश्रयो मुमुक्षुः, तस्मै स्वमूर्ति-काय परमात्मने, यत् सद्भावरूपम् भगवद्गीतोक्तामानित्वादिविंशति-भावाः, कुसुमम् हृद्यम् पूजोपकरणम्, अर्पितं योजितं, तत् म्लानं शिथि-लम् मा भूत् इति हेतोः, खल[illegible]नुकूल[illegible] प्रतिकूला[illegible] तत एव आतपः

कुसुमोपमसद्भावम्लानिहेतुत्वात् अतएव तस्मात्, तत् सद्भावम्, रक्षन् आत्मानं तेभ्यो दूरे वर्तयन्, चरति सर्वमनुतिष्ठति ।

भाष्यानुवाद—शास्त्रानुसार जीवन व्यतीत करने वाला भगवान् का शरणागत भक्त यह ध्यान रखता है कि जो मैंने अपने आपके रूप में विराजमान भगवान् को अमानित्व आदि कल्याणमय भावरूपी पुष्प अर्पित किये हैं वे कहीं मुरझा कर बेकार न हो जायें। धूप में फूल मुरझाते हैं। दुर्जनों के सारे वचन धूप हैं। उनके भाव अच्छे नहीं होते इससे वे अपने जानते जो अच्छी बात बोलते हैं उसका भी प्रभाव विपरीत ही होता है। इससे सत्पुरुष दुर्जनों से दूर ही रहते हैं जिससे परिश्रम से अर्जित अपने उत्तम भावरूपी कुसुम अपने स्वरूप पर स्थित होकर परमात्मा की उत्कृ मूर्ति की शोभा बढ़ाते रहें। सामान्य मुमुक्षु जन जिन साधनों को मोक्षोपाय मानकर अपनाते हैं उन्हें भगवन्निष्ठ मनीषी पूजोपकरण मानकर निरतिशय श्रद्धा से सम्हालते हैं ॥२०॥

श्वसिति स्वपिति स्वप्नम्,
पश्यति यच्च प्रबुद्ध उद्यच्छन् ।
भूरि च दभ्रं लभते
तदखिलं च स परस्मिन्नर्पयते ॥२१॥

अन्वयः—स (यत्) श्वसिति स्वपिति स्वप्नम् पश्यति यत् च प्रबुद्ध उद्यच्छन् भूरि दभ्रं च लभते तद् अखिलं च स परस्मिन् अर्पयते ।

व्याख्या—यत्नार्जिता अमानित्वादिगुणा इव प्राकृता जीवनहेतवः सामान्यव्यापारा अपि मुमुक्षुणा भगवति परमात्मन्येव द्रष्टव्याः, प्रकृतेरपि भगवन्मयत्वादित्याह—श्वसितीत्यादिद्वाभ्याम् । स सुधीर्भक्तः यत् श्वसिति प्राणव्यापारं करोति, स्वपिति निद्राति, स्वप्नम् पश्यति मनोमयं जगदनुभवति, यत् च प्रबुद्धस्त्यक्तनिद्रः, उद्यच्छन् धनाद्यर्थम् प्रयतमानो, भूरि प्रचुरम्, दभ्रम् च अल्पं वा, लभते अर्जतते, तद् अखिलं सर्वमपि कर्तृत्वभोक्तृत्वञ्च, परस्मिन् भगवति परमात्मनि,

अर्पयते मन्यते पश्यति। जीवनयत्नसामान्यप्रयोजकः परमात्मा। प्रयोजककर्तृत्वस्यैव प्राधान्यात् स्वस्मिन् कर्तृत्वादिकं सदपि न मन्यतेऽमानित्वादिगुणवत्। धारकतया नियामकतया प्रयोजकतया मुख्यभोक्तृतया च परमात्मैव मुख्यः कर्ताऽपीति तात्पर्यम्।

भाषानुवाद—शास्त्रनिष्ठ समर्पित भक्त सांस लेना, नींद लेना, सपने देखना, जाग्रत् अवस्था में धन आदि के लिये प्रयत्न करना और फलस्वरूप ज्यादा या कम अर्जित करना यह सारा का सारा क्रियाकलाप और भोग परमात्मा में ही मानता है। कर्तृव्यापार में प्रयोजकव्यापार ही प्रधान होता है। एवं जीवों के सुख-दुःखों के अनुभव अन्तर्यामी परमात्मा को भी तटस्थभाव से होता है। सुख-दुःख संवेदन में तारतम्य भी उनके सङ्कल्पों के अधीन होता है, ज्ञान इच्छा प्रयत्नों का उदय और साफल्य भगवान् के सङ्कल्पों पर ही निर्भर होता है। जीव के सारे कर्तृत्व भोक्तृत्वों में उसका अज्ञान भी सहकारी होता है। यथार्थ बोध से अज्ञान मिट जाने पर यह सब नहीं रह जाता। परमात्मा को अज्ञान नहीं होता। उनका ज्ञान कभी लुप्त नहीं होता। वे प्रयोजक हैं इससे सारा कर्ता-भोक्तापन उनमें ही मानना कल्याणकारी है। यदि हम ऐसा न मानें तो परमात्मा की सर्वाधारता में कमी माननी पड़ेगी जो वाञ्छनीय नहीं है ॥२१॥

स्त्रीयं किमपि न मनुते
स्वं च तस्यैव रूपमन्वानः।
सञ्चेष्टते तदर्थं
शुभतमचेष्टाश्रयो हि सुशरीरम् ॥२२॥

अन्वयः—स्वं च तस्य एव रूपम् मन्वानः स्वीयं किम् अपि न मनुते। तदर्थं सञ्चेष्टते। हि शुभतमचेष्टाश्रयः सुशरीरम्।

व्याख्या—स्वं च आत्मानम् अपि, तस्य परमात्मन एव रूपम् अभिव्यक्तिम्, मन्वानः जानानः मुमुक्षुः, स्वीयम् आत्मस्वामिकम्, किमपि

वस्तु न मनुते, तदर्थम् परमात्मन एव सङ्कल्पेनाज्ञया सन्तुष्टये सञ्चेष्टते नित्यनैमित्तिकानि दृष्टादृष्टफलकानि कर्माणि करोति। यतो हि शुभतमचेष्टाश्रयो मङ्गलतमव्यापारवत् सुशरीरम् मन्यते। चेष्टाश्रयत्वं शरीरलक्षणम्, सुचेष्टया तु सुशरीरम्।

भाषानुवाद—शास्त्रतत्त्वज्ञानपूर्वक सर्वसमर्पण हो चुकने पर चेतन स्वयम् भी समर्पित हो जाता है और अपना समर्पण वह नहीं भूलता। ऐसी स्थिति में लोक व्यवहार में अपने से सम्बन्धित जो भी कुछ उपलब्ध होता है उसे भी वह परमात्मा का ही मानता है। वैसे ही जैसे हाथी के गले का घण्टा हाथी के मालिक का ही होता है। वह कभी भी अपना कुछ नहीं मानता। जीवित शरीर में चेष्टायें होती हैं। चेष्टा ही शरीर का लक्षण है। श्रेष्ठज्ञानयुक्त शरीर से श्रेष्ठ ही चेष्टायें होती हैं। भगवान् के निमित्त किये जाने वाले कर्म सर्वश्रेष्ठ होते हैं।२२।

यच्छरीरसुखमिष्ट-
न्तत्तदीयरक्षणं हि तत्पूजा।
तद्बुद्ध्या तत्सेव्यं
न तु स्वार्थमतिजया गिरा सद्भिः ॥२३॥

अन्वयः—यत् शरीरसुखम् इष्टम् तत् हि तदीयरक्षणं तत्पूजा। तत् सद्भिः तद्बुद्ध्या सेव्यं, स्वर्थमतिजया गिरा तु न।

व्याख्या—समर्पणाय वादमाक्षिप्य समाधत्ते—यच्छरीरेत्यादि। यत् प्रसिद्ध, शरीरसुखम् आहारनिद्राभयमैथुनजम्, इष्टम् सर्वस्य प्राणिजातस्य भगवद्भक्तस्य प्रपन्नस्य चापेक्षितम्, तत् तदीयरक्षणं तस्य भगवत आराधनोपकरणतया सम्बन्धि तदीयम्, तस्य रक्षणम् अवश्यापेक्षितसम्पादनेन पालनम्, अत एव पूजोपकरणरक्षणस्य पूजात्वानतिरेकात् पूजैव, नं तु चेतनस्य स्वार्थः, तत् शरीरसुखम् आहारादि यदवश्यापेक्षितम् तत् सद्भिः भगवत्सम्बन्धलब्धसत्ताकैर्जितेन्द्रियैः, तद्बुद्ध्या प्रभुसेवा स्नानादिवत् पूजाङ्गताबुद्ध्या एव, सेव्यं

अनुभवितव्यम्, स्वार्थमतिजया अहम् एतत्सुखम् अनुभवामि, ममेदं सुखम्, इत्यादिरूपया बुद्धया तज्जया गिरा वाचा सह तु न सेव्यम् स्वाज्ञानस्य स्ववाचैव प्रमाणनानौचित्यादित्यर्थः।

भाषानुवाद—यहाँ प्रश्न होता है कि प्रारब्धाधीन जीवन व्यक्तिगत सुखदुःखोपभोग के लिये होता है। सुख दुःखों के साधन भी व्यक्तिगत होते हैं। उन्हें परमात्मा का मानना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त समर्पण का भाव आंशिक ही हो सकता है। इस पर उत्तर देते हैं कि अवश्य ही प्रारब्धानुसार सुख और उनके साधन आहार आदि चाहे जाते हैं। वह चाह अपनी ही होती है, किन्तु यह भी तथ्य है कि व्यक्ति, उसकी इच्छा, प्रयत्न और फल एवम् फलों के अनुकूल प्रतिकूल अनुभव ईश्वरीय वैभव से बाहर नहीं है इससे सब कुछ उनका तो है ही। तत्त्वबोध हो चुकने के बाद चेतन निषिद्ध आचरणों से स्वयं विरत हो जाता है और जो निषिद्ध नहीं हैं उन्हें विहित कर्तव्य के पूरक के रूप में ही अपनाता है। जैसे स्नान से स्फूर्ति मिलती है, वह एक सुख सुख ही है किन्तु स्नान सत्कर्मों का अङ्ग भी होता है। तत्त्वदर्शी कर्मनिष्ठ व्यक्ति को भी स्नान से स्फूर्ति मिलती है, किन्तु उसका ध्यान स्नानोत्तर कर्म में रहता है इससे वह स्नान में अधिक समय नहीं गवांता। इसी प्रकार वे सारे कर्म वह भी करता है जिनके बिना मुख्य कर्तव्य भगवत्सेवा में व्यवधान होने का भय होता है। तत्त्वदर्शी कभी भी कोई भी कृत्य स्वार्थबुद्धि से नहीं करता, इससे वह स्वार्थभाव स्वीकार भी नहीं करता। फलतः कर्मों के शुभाशुभ फलों से वह अछूता रहता है। यही मुक्ति का मार्ग है ॥२३॥

ज्ञानमयीयम्पूजा
भगवन्मयगुरुसुखात्तु संग्राह्या।
शुद्धधिया हरयेऽर्प्या
प्रातः प्रार्चति रवौ हरेः स्मरणौ ॥२४॥

अन्वयः—ज्ञानमयी इयम् पूजा भगवन्मयगुरुमुखात्तु संग्राह्या। प्रातः हरेः सरणौ रवौ प्रातति शुद्धधिया हरये अर्प्या।

व्याख्या—ससमयनियमम्प्रत्यहम्भगवदेकनिष्ठया धिया इदमनुसन्धेयं स्वस्वरूपभूताय भगवतेऽर्पणीयञ्चेत्याह—ज्ञानमयीत्यादिना। ज्ञानमयी अतिसुलभा परमफला च, इयम् प्रस्तुता, पूजा भगवदाराधनविशेषः, भगवन्मयगुरुमुखात्तु स्वभावप्रभावश्रद्धाभिर्यो भगवानिव सेव्यते तस्य गुरोर्मुखात् संशयविपर्ययवारणप्रवणशुभाशीःशबलितवचनात् न पाठमात्रेण केवलकल्पनया वा, संग्राह्या चेतसा सदा धार्या, अथ च प्रातः निद्रावसाने, हरेः परमात्मनः, सरणौ प्राप्तिसाधनभूते 'अग्निर्ज्योति॰' रित्यादिगीताप्रामाण्यात्, रवौ शब्दाश्रये शब्दविषये च, 'रु शब्दे इन्' भगवदाकारतयाऽपि स्तुतिविषय इति यावत्, प्रातति प्रकर्षेण नवनवतमजगदुद्भावनरूपेण अतति निर्विरामं गगनं क्रामति, तथा भाति वा सति, शुद्धधिया विषयानाविलया, हरये 'हृञ्हरणे इन्' सकलार्चास्तुत्येकविषयभूतायापि अनादेः कालात् संसाराहरणपरत्वेऽपि मोक्षलाभाधिकारावियुताय स्वस्वरूपभूताय परमात्मने, अर्प्या तस्मिन् विन्यसनीया।

भाषानुवाद—प्रस्तुत पूजा ज्ञानरूप है। इसके लिए कोई भी बाह्यसामग्री अपेक्षित नहीं है। इसमें कोई अतात्त्विक कल्पना भी नहीं है। यह अत्यन्त सुलभ है साथ ही सर्वश्रेष्ठ फल देने वाली है। इसे किसी उत्तम भगवद्भक्त आचार्य के आशीर्वचन के द्वारा प्राप्त करना चाहिए। साथ ही प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय शुद्धबुद्धि से अपने स्वरूपभूत परमात्मा को सादर अर्पित करना चाहिये। प्रातः काल सूर्यनारायण सत्कर्मों के प्रत्यक्ष साक्षी होते हैं। सभी फल देने वाले भगवान् भी उनमें विराजमान होते हैं ॥२४॥

अतिसन्निहितं रूपं
सम्पूज्यैवं तदीयमथ भक्तः।

क्रमशस्तान्यर्चयते

यैः कृतार्थतां गता महापुरुषाः ॥२५॥

अन्वयः—भक्तः एवम् तदीयम् अतिसन्निहितं रूपं सम्पूज्य अथ क्रमशः तानि अर्चयते यैः महापुरुषाः कृतार्थतां गताः ।

व्याख्या—प्रसङ्गप्राप्ताम्बाह्यपूजां विधत्ते-अतिसन्निहितेत्यादिना । भक्तः भजननिरतो मुमुक्षुः, एवम् अनन्तरोक्तभावनाभिः, तदीयम् भगवतः, अतिसन्निहितम् स्वस्माद् विप्रकर्षलेशशून्यम्, रूपं विग्रहम् सम्पूज्य भावैरेव कुसुमै रत्नैरर्चयित्वा अथ पश्चात्, क्रमशः सन्निधानक्रमेण, तानि रूपाणि मूर्तीः, अर्चयते बाह्यपूजोपकरणैः स्तुति-प्रणामादिभिश्च पूजयति, यैः रूपैः, महापुरुषा अनुकरणीयचरिताः साधवः, कृतार्थताम् जन्मसाफल्यम्, गताः प्राप्तवन्तः ।

भाषानुवाद—अपने आप से अपनी कोई दूरी नहीं होती। अज्ञान दूरी बनाता है। ज्ञान होने पर वह दूरी मिट जाती है। अपना स्वरूप भगवान् की ही मूर्ति है। वह अपने से दूर भी नहीं है। इसकी पूजा के लिये बाह्य उपकरण की अपेक्षा भी नहीं है। यह भगवान् का अतिशय प्रिय रूप है। क्योंकि यह उनके रूप से बहुत साम्य रखता है। साथ ही अज्ञान अवस्था में नाना प्रकार की संसरण लीलाओं का मुख्य उपकरण भी है। इससे इसे छोड़कर दूर की मूर्तियों की बाहरी उपकरणों से पूजा करना भगवान् को अच्छा नहीं लगेगा। इससे उक्त प्रकारों से पहले इस रूप की ही पूजा करनी चाहिए। इसके बाद दूरस्थ उन रूपोंकी पूजा करनी चाहिये जिनके दर्शन पूजन प्रणामादि से पुराने महान् आत्माओं को सफलता और शान्ति प्राप्त हुई है ॥२५॥

यच्चिन्तो यद्वाञ्छ-

स्तद्देहान्तेऽप्यवाप्नुते पुरुषः ।

सर्वम्भगवति पश्यन्

स्वामिनि हृदये समाप्नुयात्तद्धि ॥२६॥

अन्वयः—पुरुषो यच्चिन्तो यद्वाञ्छः तद् देहान्तेऽपि अवाप्नुते । हृद्ये स्वामिनि भगवति सर्वम् पश्यन् तद्धीः तम् आप्नुयात् ।

व्याख्या—अस्यार्चनस्य फलं सर्वाकारसर्वाधारभगवत्सायुज्यरूपा मुख्या मुक्तिरेवेति सयुक्तिकमाह—यच्चिन्त इत्यादि । पुरुषश्चेतनो, यच्चिन्तः यद्विषयकचिन्तननिरतो भवति, यद्वाञ्छः चिन्तितार्थेषु यमर्थम् भूयो भूयो लब्धुम् इच्छति. तद् देहान्ते उत्तरदेहेष्वपि, अवाप्नुते लभते, भगवद्गीतायाम्='अन्तकाले च मामेव' 'यं यं वाऽपि स्मरन्०' इत्यादि ध्येयम् श्लो० ५,. ६, अ० ८। उक्त सामान्यनियमानुसारं हृद्ये निरतिशयप्रिये, स्वामिनि जगतः सर्वस्य स्वस्य च सर्वावस्थाक्रिया-फलनिर्वाहके, भगवति सर्वैश्वर्ययुक्ते, सर्वम् आत्मानं स्वेतरसकल-चेतन-जातं कार्यकारणावस्थं सकलं जगदपि, पश्यन् धियः साक्षादिव धारयन्, तद्धीः तदन्यचिन्तारहितः, तम् तथोक्तम् भगवन्तम्, आप्नुयात् लभेत । तदेकचित्तस्य चिन्तान्तरविरतस्य तदन्यलाभायोगात् तल्लाभावश्यम्भावात् ।

भाषानुवाद—कोई भी चेतन जो कुछ सोचता और ज्यादातर चाहता है वह उसे अगले जन्म में मिल जाता है यदि कोई बड़ा प्रति-बन्ध न हो तो । विपरीत कर्म ही प्रतिबन्ध होता है । प्रतिबन्ध की स्थिति में इच्छा सुदृढ़ नहीं होती । कर्मवश जो मिलना होता है उधर ही मन जाता है। यदि मन भगवान् को छोड़कर अन्यत्र न जाता हो तो साधक भगवान् को जिस रूप में समझा करता है उसी रूप में उन्हें प्राप्त करता है । शास्त्रोक्त सकल जगदुपादानभूत निरतिशय कल्याण-मय सहज आत्मीयरूप में उनका सतत ध्यान रखने से सायुज्य मोक्ष प्राप्त होता है । क्योंकि उस रूप में उपलब्ध भगवान् का मैत्री-प्रयुक्त समानता के साथ नित्य साहचर्य ही सायुज्य है ।।२६।।

उत्पन्नाः सद्भावा

यदि सततं हरौ सम्प्रवर्तन्ते ।

पूजाहीनावसरा-
लाभावसन्मतयो निवर्तन्ते ॥२७॥

अन्वयः—यथाक्रमः। पूजेत्यतः प्राक् त देत्यध्याहार्यम्।

व्याख्या—निरतिशयप्रियम् भगवन्तम् आश्रयत्वविषयत्वाभ्याम् आलम्बमानाः कठोरा अमानित्वादयो भावा यदि चित्ताकाशे विद्योतन्ते तदा अबोधान्धकारसर्पिणी निरवकाशा संसारचिन्ता न मनाग् अपि प्रभवतीत्याह—उत्पन्ना इत्यादि। उत्पन्नाः सच्छास्त्रसत्पुरुषवचोभिरनवरतं जायमानाः, सद्भावा निःश्रेयसहेतवो भगवद्गीतोक्ता अमानित्वादयो भक्तिज्ञानादयश्च भावाः, यदि सततं विरोधिविषयव्यवधानराहित्येन, हरौ परमात्मनि, सम्प्रवर्तन्ते आश्रयतया विषयतया च परमात्मानमेव दृढमालम्बन्ते, तदा पूजाहीनावसरालाभात् दुर्वृत्त्यनुकूलसमयानुपलम्भात्, असन्मतय आन्तरा बाह्याश्च पतनहेतुप्राकृतमिथ्यार्थविषया धियः, निवर्तन्ते विफला भवन्ति।

भाषानुवाद—भगवत्सम्बन्धी शास्त्रों और सत्पुरुषों के वचनों से यदि अमानित्व आदि गुणों से शुद्ध हृदय में भगवान् के प्रति सुन्दर भाव बनते और समर्पित होते रहें तो जैसे लोक में पूजा पाठ के समय संसारी व्यक्ति भी अनुचित विचार नहीं करता, इससे कोई उस समय उसके समक्ष अनुचित बात प्रस्तुत भी नहीं करता, वैसे ही यत्नपरायण मुमुक्षु चेतन के हृदय में किसी भी निमित्त से संसारी भाव बन नहीं पाते ॥ २७ ॥

ज्ञानभानुरयमिद्धः
सञ्चितपापान्धकारसंघातम्।
हत्वा विष्णुपदस्थं
कलयत्यमृतमखिललोकजीवातु ॥२८॥

अन्वयः—अयं ज्ञानभानुः इद्धः (सन्) सञ्चितपापान्धकारसंघातम् हत्वा अखिललोकजीवातु विष्णुपदस्थम् अमृतं कलयति।

व्याख्या—उपक्रान्तम् उपसंहरति—ज्ञानेत्यादिना। अयम् उपसंह्रियमाणः, ज्ञानभानुः अज्ञानान्धकारनिरोधी ज्ञानरूपः सूर्यः, इद्धः सुप्रकाशः सन्, सञ्चितपापान्धकारसंघातम् सञ्चितानि अनारब्ध-फलानि पापान्येव तत्त्वबोधविरोधित्वाद् अन्धकारसंघातः अन्धतमससमूहः तम्, हत्वा विनाश्य, अखिललोकजीवातु सकलजगज्जीवनहेतुभूतम्, विष्णुपदस्थम् गगनाभोगसञ्चारि, अमृतम् प्राणवायुम्, इव विष्णुपदस्थं श्रीमन्नारायणचरणैकाधीनम्. अखिललोकजीवातु चेतनसामान्योज्जीवन-कारणम्, अमृतं सायुज्यमोक्षम्, कलयति स्वयं धारयति। ज्ञानाधीना हि मुक्तिः।

भाषानुवाद—प्रस्तुत ज्ञान एक ऐसा सूर्य है जो तत्त्वदृष्टि विरोधी सभी सञ्चित पापरूपी घोर अन्धकार का नाश करके वह मोक्षपद स्वयम् पा लेता है जो शुद्ध प्राणवायु(आक्सीजन)की तरह सभी चेतनों के लिए उत्कृष्टजीवन का कारण है और जो भगवान् के चरणों की कृपा के ही अधीन है। यह यथार्थ ज्ञान ही भगवत्कृपाधीन मोक्ष-पद का दोहन करता है ॥२८॥

सत्पथमार्तण्डोऽयम्
मणिरिव धार्यः सुधीजनैः कण्ठे।
एतेनोत्तमलोकान्
अयतेऽधमसङ्गभङ्गतः सुतराम् ॥२९॥

अन्वय—अयं सत्पथमार्तण्डः सुधीजनैः कण्ठे मणिरिव धार्यः। एतेन अधमसङ्गभङ्गतः सुतराम् उत्तमलोकान् अयते।

व्याख्या—पाठमात्रेणापि मङ्गलं तनुयादिदमित्याह—सत्पथेति। अयम् प्रस्तुतः, सत्पथमार्तण्डो नाम्ना निबन्धः, सुधीजनैः मङ्गलकामैः, कण्ठे ग्रीवायाम्, मणिरिव शोभावहो, धार्यः अविरलपाठोचितस्मृत्यारूढः कार्यः। एतेन धारणमात्रेण, अधमसङ्गभङ्गतः शब्दसामर्थ्यादेव दुर्जन-दूरीभावतः सुतराम् अनायासम्, [illegible]लोकान् सत्पुरुषान् समुदितान्वा

सात्त्विकावासभूतस्थानानि देवादिलोकांश्च, अयते लभते। शोभनपदानि शुभार्थसंस्कारद्वारा शुभावस्थयाऽपि योजयेयुरित्यर्थः।

भाषानुवाद—सत्पथमार्तण्ड नामक यह निवन्ध सात्त्विकजन अपने कण्ठ में शोभाधायक मणि की तरह श्रद्धा से धारण करेंगे तो नीच संगति से छूटकर उत्तम सङ्ग और उत्तम अवस्था तथा उत्तम लोक को भी प्राप्त करेंगे।

भगवच्चरणनिषण्णा-
शयगुरुचरणाश्चिरम्प्रसीदन्तु।
स्वाश्रितविष्वक्सेनो-
दितहितरुचिरार्थसौरभाद्विशदात् ॥३०॥

अन्वयः—विशदात् स्वाश्रितविष्वक्सेनोदितहितरुचिरार्थं सौरभात् भगवच्चरणनिषण्णाशयगुरुचरणाः चिरम् प्रसीदन्तु।

व्याख्या—उक्तार्थानां सदाचार्यपरम्पराप्राप्तत्वेन विश्रम्भार्हताम् व्यञ्जयन् स्वनामनिर्देशपुरस्सरमुपसंहरति—भगवदित्यादिना। विशदात् सुबोधात् सुप्रसिद्धात्, स्वाश्रितविष्वक्सेनोदितहितरुचिरार्थसौरभात् स्वाश्रितेन स्वशिष्येन विष्वक्सेनाख्येन उदितानाम् प्रतिपादितानाम् हितानां कल्याणमयानां, रुचिराणाम् मनोहराणाम्, अर्थानाम् ध्येयानाम्, सौरभात् मनोज्ञत्वात्, हेतोः, भगवच्चरणनिषण्णाशयगुरुचरणाः भगवच्चरयोरनवरतध्यानविषयतया निषण्णाः संगता, आशयाः अन्तःकरणानि येषां ते तथोक्ता गुरुचरणाः सुप्रथितसत्सम्प्रदायोपदेशकौशला, ये—

वेदान्तद्वयतत्त्वसौरभमिलद्गम्भीरवाचोऽनिशं
ध्यायन्तो बदरीशपादयुगलं विद्यातपोवार्धयः।
हित्वा लौकिकसङ्गमाश्रमकुटीमध्येऽर्चयन्तो हरिं
श्रीकाश्या व्रजधामतो हरिपदं याता अदर्याश्रमात् ॥

ते चिरम् बहुकालम्, प्रसीदन्तु स्वाभीक्ष्णकृत्यावलोकनेन सुसन्तुष्टचेतसो दयन्ताम्।

भाषानुवाद—सुबोध शैली में बताये गये, सात्त्विक समाज में प्रसिद्ध, हितकर इन अर्थों की रमणीयता से अपने शिष्य विष्वक्सेन नामक लेखक पर वे आचार्यचरण चिरकाल तक प्रसन्न रहें जिनका हृदय भगवान् के चरणों में ही नित्य लीन रहा है। इस प्रकार इस निबन्ध के अर्थों की विश्वसनीयता के लिए अपने आचार्यों की भगवन्निष्ठा सूचित करते हुए अपने नाम का भी निर्देश करके ग्रन्थ का उपसंहार किया ।३०॥

प्रभु ने स्वयं किया है इसमें अपना हाथ लगा कैसे ।
माता के स्तन में लग जाता शिशु का कोमक कर जैसे ॥

卐 卐

लेखक की मुद्रणाधीन अन्य कृतियाँ—

१—शीलसाहित्यम्—७०० आर्या छन्दों में प्रेरक भावों का संग्रह हिन्दी भावानुवाद सहित।

२—गीतागङ्गा—भगवद्गीता के भावों पर आधारित यह एक मौलिक रचना है। यह गङ्गा चार धाराओं में बह रही है। वस्तुतः एक नाम के चार ग्रन्थ हैं।

३—पहलीधारा—३०० तीन सौ द्रुतविलम्बित छन्दों में पूरी हुई है। इसका हिन्दी भावानुवाद हो रहा है।

४—दूसरीधारा—३०० तीन सौ स्रग्धरा छन्दों में पूरी हुई है। पहली धारा अध्ययनरत छात्रों के लिये है और दूसरी प्रौढ पण्डितों के लिये। दोनों के विषय अत्यन्त भिन्न हैं। दोनों में समग्रगीता पर चिन्तन है। कहीं गीतार्थों का संक्षेप है। कहीं विस्तार है और कहीं प्रवेश में सुविधा के लिये पृथक् चिन्तन है। दूसरी धारा भी भावानुवाद के साथ ही छपेगी।

५—तीसरीधारा—हिन्दी में प्रश्नोत्तर के रूप में होगी।

६—चौथी भगवद्गीता—के विशद भावानुवाद के रूप में होगी। अन्य ग्रन्थों में अनुपलब्ध और अत्यावश्यक भाव इसमें होंगे।

७—भावकुसुमाञ्जलिः—इसमें भक्ति स्नेह राग आदि शुभ भावों और मोह ईर्ष्याद्वेष आदि अशुभ भावों का श्लोकबद्ध व्याख्यात्मक सरस परिचय है। अनुवाद होने पर छपेगा।

८—धर्म और अधर्म (हिन्दी निबन्ध)—विषय नाम से ही स्पष्ट है। शीघ्र प्रकाश में आ रहा है।

९—मानवता की परख—आज कल मानवता पर अनर्गलचिन्तन चल रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में मानवता का वास्तवरूप प्रदर्शित करते हुए उसे अपनाने का सुझाव दिया गया है। शीघ्र प्रकाश में आ रहा है।

आशी:प्रार्थनां—

यो विश्वं तनुते जडाजडमयं सस्थूलसूक्ष्मं सनात्,
अन्तर्यो ऽयमयत्यजस्रमखिलावस्थासु तत्त्वोच्चयम् ।
त्रैलोक्यं वशयन् स्वभक्तवशगः शान्तोऽपि सर्वेश्वरः,
सत्प्रज्ञां स तनोतु तत्त्वनिचये स्वस्मै नमद्भ्यो हरिः ॥१॥

भावार्थ—जो भगवान् हरि जड़ चेतनात्मक स्थूल सूक्ष्म संसार का विस्तार सदा करते रहते हैं, एवं जो समस्त तत्त्वों के अन्दर रहते हुए अपने सङ्कल्पाधीन नियमन में रखते हैं, जो तीनों लोकों को सदा वश में रखते हुए भी अपने भक्तों के वश में रहते हैं तथा सदा शान्त रहते हुए भी समस्त तत्त्वों के स्वामी हैं वे अपने प्रति प्रणाम करते हुए लोगों को सभी तत्त्वों के विषय में यथार्थ ज्ञान प्रदान करें जिससे अज्ञान-नाश पूर्वक निःश्रेयस की प्राप्ति हो ॥१॥

स्थानं यस्य नभोऽस्त्यनन्तमहिम ज्योतिश्चयोऽर्चा परा,
भोगो विश्वमशेषमाचमनकं क्षीरादयो वार्धयः ।
नित्यात्मान्तमहेश्वरस्य पुरतः का दीयतां दक्षिणा,
यन्मूर्ध्नां नमनं तदस्तु न यतो वस्त्वस्ति तस्माद् बहिः ॥२॥

भावार्थ—जिसके विस्तार का अन्त नहीं, ऐसा आकाश जिनका आसन है, ज्योतियों का समूह जिनकी श्रेष्ठ पूजा आरती है, सारा विश्व जिनका भोग (नैवेद्य) है एवं क्षीर आदि सारे समुद्र जिनके आचमन हैं नित्य आत्मतत्त्व पर्यन्त के नित्य स्वामी उनके समक्ष दक्षिणा क्या दी जा सकती है, मस्तकों का उनके प्रति झुकना ही दक्षिणा हो सकती है क्योंकि दूसरी कोई भी वस्तु उनके नियमन से बाहर नहीं है ।

●●●

मुद्रक—
श्रीरङ्गनाथ प्रेस, वृन्दावन-२८११२१
☎ (०५६५) २४४२२३१



दो शब्द

ये छोटे दो संस्कृत प[illegible] निबन्ध बच्चों के भी उपयोगी हैं। जी[illegible] को सन्मार्ग पकड़ाने में बहुत सहा[illegible] हैं। इनमें अध्यात्म तत्वों के गूढ़ र[illegible] सुबोध संक्षिप्त भाषा में प्रस्तुत है। विस्तृत हिन्दी भावार्थ से इनकी उपयोगिता बढ़ गई है। संस्कृत हिन्दी वाङ्मय में यह एक अनोखी रचना है।

जो लोग कथा प्रवचनों में ललित पद्यों के साथ वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं उन्हें इनसे अच्छी सहायता मिलेगी। इनका कोई एक भी पद्य जीवन को धन्य बना सकता है। इनसे आपकी वाणी अलंकृत होगी। प्रज्ञा भी परिष्कृत होगी।

–लेखक

मुद्रक :
श्रीरंगनाथ प्रेस
रंगजी का पश्चिम कटरा, वृन्दावन–281121 (उ.प्र.)
फोन : (0565) 2442131